'मास्टर' मणिमाला की १७७ वीं मणि ('वेदविभाग की २री मणि)

यज्ञ-मीमांसा

[प्रथम-भाग]

लेखक—

श्री वेणीराम शर्मा गौड़

वेदाचार्य, काव्यतीर्थ

प्रकाशक—

मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स,

संस्कृत-बुकडिपो,

काशी।

इति नलिखितम्।
चतुर्षु ऋत्विक्षु क आचार्य
यज्ञस्य विषये श्रौतसूत्राणि परित्यज्य पुराण—
वाक्यानि बाहुल्येन गृहीतानि। नातस्तथा
प्रामाणिकीयं यज्ञमीमांसा। ला०कि० १६-८-२००८

* श्री *

यज्ञ-मीमांसा ।

[प्रथम-भाग]

लेखक—

पण्डित श्री वेणीराम शर्मा गौड़,
वेदाचार्य, काव्यतीर्थ
[अध्यापक—गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, काशी]

Yagya Mimansa

FIRST PART

by

Pt. SHRI VENI RAM SHARMA GAUD,
Vedacharya, Kavya-Tirth
Professor, Goenka Sanskrit College, Benares.

प्रथम संस्करण] मूल्य ||=) [सन् १९४४

मुद्रक—
श्रीमन्नालाल अभिमन्यु एम. ए.
मास्टर प्रिण्टिङ्ग वर्क्स,
बुलानाला, बनारस।

समर्पण

श्री गौड़-ब्राह्मणकुलमूर्द्धन्य भारतप्रसिद्ध आयुर्वेदशास्त्रावतार

सहृदय-शिरोमणि रायबहादुर

श्रीमान् पं० श्रीदत्त जी शास्त्री गौड

(आनरेरी मजिस्ट्रेट एवं

सब जज, भिवानी)

[RAIBAHADUR PANDIT
SHRI DATTA JI GAUD
Vaidyaraj, Hony. Magistrate
& Sub—Judge, Bhiwani]

महोदय की सम्मान्य सेवा में

श्रद्धा—भक्ति पुरस्सर

पुष्पाञ्जलि रूप से

सादर समर्पित—

रचिता यज्ञ-मीमांसा श्रीमत्करसरोरुहे ।
अर्प्यते परमप्रीत्या वेणीरामेण शर्मणा ॥

भूमिका

यो यज्ञे यज्ञपरमैरिज्यते यज्ञसंज्ञितः ।
तं यज्ञपुरुषं विष्णुं नमामि प्रभुमीश्वरम् ॥

संसार का प्रत्येक प्राणी अपने सुखकी चिन्ता में निमग्न रहता हुआ उठते, बैठते, सोते, जागते हर समय उसी को सोच किया करता है । वह सुख दो प्रकार का होता है—ऐहलौकिक और पारलौकिक । इस शरीर द्वारा भोग्य सुख को ऐहलौकिक और दूसरे शरीर से परलोक में भोग्य सुख को पारलौकिक सुख कहते हैं । अधिकांश प्राणियों का झुकाव ऐहलौकिक (सांसारिक) सुखों की ही ओर रहा करता है । अत एव उसके निमित्त वे लोग अनेक प्रकार के कष्ट भी सहन करते हैं तथा धन, पुत्र, कलत्रादि में ही अपने को परम सुखी और कृतकृत्य समझते हैं । फलतः अल्पसंख्यक ही-परलोक सुखार्थ प्रयत्नशील होते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि—अचिरस्थायी ऐहलौकिक सुखापेक्षया पारलौकिक सुख ही अनूत्तम और स्तुत्य है । उसकी प्राप्ति के लिये त्रिकालज्ञ महर्षियों ने समस्त वेदों, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों के तत्त्वों की छान-बीन कर जो मार्ग निर्द्धारित किया है वह सर्वथा सबके लिये अवश्य अनुशरणीय है ।

ऋषि-महर्षियों के सिद्धान्तों की उपलब्धि उनके शास्त्रों से होती है । अत एव शास्त्रों के शरण जाना ही परम श्रेयस्कर सिद्ध किया गया है ! अन्यथा वृत्ति वाले के लिये तो गीता स्पष्ट कहती है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(१६।२३—२४)

'जो शास्त्र-कथित विधि के विपरीत मन-माना आचरण करता है उसे न

तो सिद्धि मिलती है न सुख मिलता है और न उत्तम गति ही मिलती है। अतः हे अर्जुन ! कर्तव्याकर्तव्य के निर्णयार्थ शास्त्रों का प्रमाण मानना ही चाहिये। शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है तदनुकूल की इस लोक में कर्म करना श्रेयस्कर है।'

कर्म—मीमांसा के प्रवृत्त होने पर मानव-देह धारण करते ही द्विज (ब्राह्मण,-क्षत्रिय, वैश्य,) तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी होता है। श्रुति में भी कहा है—

"जायमानो हि *ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः, स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः, इति।"

'त्रैवर्णिक जन्मकाल से ही ऋण-त्रय (देव-ऋण, पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण) से ऋणी बन कर रहता है। उन ऋणों की मुक्ति क्रमशः इस प्रकार होती है—यज्ञों के द्वारा देव-ऋण से, सन्तति के द्वारा पितृ-ऋण से तथा स्वाध्याय के द्वारा ऋषि-ऋण से होती है।'

भगवान् मनु ने भी 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य' (६।३५) इत्यादि वाक्य द्वारा इसी ऋणत्रय के अपकरण को मनुष्य का प्रधान कर्म बतलाया है। ऋणत्रय में सर्वप्रथम देवसेवा की ही उपस्थिति होती है, देव-सेवा द्वारा देव-ऋण से मुक्त होना प्राथमिक कृत्य है। वह किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है यह उपर्युक्त श्रुति ने बतला दिया है कि—यज्ञों के द्वारा ही देव-ऋणादि से मुक्ति हो सकती है। वह यज्ञादि कर्म अत्यन्त पावन तथा अनुपेक्षणीय है। जैसा कि अनेक मत—मतान्तरों का निरास करते हुए गीता के आचार्य स्वयं भगवान् ने सिद्धान्त किया है—

यज्ञ दान-तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावना न मनीषिणाम् ॥ (१८।५)

इतना ही नहीं जगत् कल्याण की मीमांसा तथा कर्तव्य सत्पथ का निश्चय करते हुए स्पष्ट कहा है कि यज्ञिय कर्मों के अतिरिक्त समस्त कर्म लोक-बन्धन के लिये ही हैं—

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' (गीता, ३।९)

और भी प्रायः सभी शास्त्रकारों तथा विचारशील आचार्यों के मत से

*'ब्राह्मण' यह पद द्विजाति—मात्र का उपलक्षण है।

सिद्ध है कि—यज्ञ ही सर्वस्व है और वही संसार का कल्याण कर्ता है—

यज्ञो वै विष्णुः। (श० ब्रा० १।१।१।२)

नारायणः परो देवः। (मत्स्य पु० २४७।३६)

यज्ञोऽयं सर्वकामधुक्। (पद्मपुराण)

यज्ञभागभुजो देवाः। (मत्स्य पु० २४६।१४)

यज्ञाः कल्याणहेतवः। (विष्णुपुराण, ६।१।८)

यज्ञैश्च देवानाप्नोति। (मत्स्य पु० १४३।३३)

उपर्युक्त विषय का यहाँ पर केवल सङ्केत-मात्र ही किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को **'यज्ञ-मीमांसा'** के पृष्ठ १० में **'यज्ञ-महत्त्व'** शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

जिस प्रकार यज्ञ अत्यन्त महनीय पवित्र कर्म है उसी प्रकार उसके विधि-विधान भी अत्यन्त परिमार्जित एवं आदर्श हैं। जो लोग यज्ञको साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न करते हैं वे ही उत्तम **याज्ञिक** कहलाते हैं और वही लोग वास्तव में यज्ञ के अधिकारी कहे गये हैं। जो लोग शास्त्रविरुद्ध यज्ञ-कर्म करते हैं वे क्रमशः ***याग-कण्टक** तथा †**मन्त्रकण्टक** कहलाते हुए यज्ञ-कार्य के लिये सर्वथा निषिद्ध कहे गये हैं। अतः श्रेष्ठ याज्ञिक बनने के लिये वेदों के ‡ मन्त्र स्वर, वर्ण, ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग निरुक्त, ब्राह्मण आदि का पूर्ण परिज्ञान करते हुए **शिष्टाचार, धर्ममर्यादा, शास्त्रविश्वास, लोक-कल्याण-भावना, सन्ध्योपासना, ब्रह्मचर्य-रक्षा गुरुश्रद्धा, लोकप्रियता** आदि सद्गुणों से सम्पन्न होना चाहिये।

---

* मन्त्राणां दैवतं छन्दो निरुक्तं ब्राह्मणान् ऋषीन्।
कृत्तद्धितादींश्चाज्ञात्वा यजन्ते यागकण्टकाः॥
(कात्या० सर्वा० अनन्त भा०)

† ऋषिच्छन्दो दैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वरानपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते॥ (ऋ० सा० १।१।१४)

‡ मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
(पाणि० शि०, ५२)

ऐसा गुणो से रहित वैदिकनामधारी केवल मन्त्रादि के किसी एक भाग तथा कतिपय भागों का अधिकारी शास्त्रानुसार ज्ञानापूर्ण होने के कारण याजनादि कर्मों का अधिकारी कथमपि नहीं हो सकता है।

यजमान के लिये भी कहा गया है कि श्रद्धा-भक्ति-सत्य-ब्रह्मचर्यादि व्रत के नियमानुकूल आचार सम्पन्न ही यज्ञाधिकारी होता है। अन्यथा श्रद्धादि गुण-हीन यजमान का किया हुआ यज्ञ-कर्म सर्वथा निष्फल होता है और देवगण भी उसकी दी हुई 'आहुति' को स्वीकार नहीं करते ऐसा स्पष्ट कहा है—

"नाश्रद्दधानाय* हविर्जुषन्ति देवाः।"

गीतोपनिषद् में भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि की है—

अश्रद्धया हुतं द्रव्यं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

'अश्रद्धा से हवन, दान, तप अथवा जो कुछ कर्म किया जाता है उसे 'असत्' कहते हैं। हे पार्थ ! असत्कर्म का फल न तो परलोक में और न इस लोक में ही हितकर होता है।

श्रद्धाहीन सम्पादित यज्ञ नास्तिकतापूर्ण कहे जाते हैं और इस प्रकार के निन्दनीय यज्ञों से राजा और राष्ट्र दोनों की भयङ्कर क्षति होती है। जैसा कि मत्स्यपुराण में भी लिखा है—

शान्तिमङ्गलहोमेषु नास्तिक्यं यत्र जायते।
राजा वा म्रियते तत्र स देशो वा विनश्यति॥

(२३९।११)

'शान्ति, मङ्गल, होम-कार्यों में जहाँ पर श्रद्धा-हीनता से उत्पन्न नास्तिकता का साम्राज्य रहता है वहाँ के राजा तथा उस देश का विनाश होता है।'

अतः †श्रद्धा-पूर्वक यागादि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा करने से ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है। मनुस्मृति में स्पष्ट कहा है—

---

*अत्र 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तथा च अश्रद्दधानस्येति फलति।

† श्रद्धा तु चतुर्विधपुरुषार्थेषु यथार्थो 'एवमिदम्' इति समुत्पद्यमाना या धीस्तदधिदेवताभाव संज्ञैव।

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥
(४।२२६)

वेदों में भी श्रद्धा की ही प्रधानता स्वीकार करते हुए कहा गया है कि—**'श्रद्धया सत्यमाप्यते'** (शु० य० १९।३०)

ऋग्वेद (८।८।९।) में भी श्रद्धा के महत्त्व का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

जब तक इस भारत-भूमि में यज्ञों का उचित सम्मान था तब तक इसकी मर्यादा तथा सुख सराहनीय था । प्राणी-प्राणी में सद्भावना थी, चारों ओर कल्याण ही कल्याण दृष्टिगोचर होता था । जब से नवयुग ने अपनी महिमा के प्रचुर प्रसार का आरम्भ किया तभी से यज्ञादि कर्म में शिथिलता आने लगी । जिसका परिणाम यह हुआ कि—सुख के बदले दुःख, मर्यादा के बदले अकीर्ति, पारस्परिक प्रेम के बदले ईर्ष्या तथा द्वेष, द्रव्य के बदले दरिद्रता का नग्न नृत्य एवं नाना प्रकार के अकल्याण ही दृष्टि- पथ हो रहे हैं । राजा, रङ्क, फकीर सभी सुख-लेश की आकाङ्क्षामात्र में ही सफल होते दिखाई दे रहे हैं । अतः सुस्पष्ट है कि—उपर्युक्त दुःख-राशि एवं संसार के समस्त दुःख-समूह को आमूलचूल नष्ट-भ्रष्ट करने वाला केवल यज्ञ ही एक ऐसा अकाट्य साधन है जिसके द्वारा मनुष्य ,सर्वतोभावेन सुखी हो सकता है ।

पहले किसी समय इसी पुण्य भारत-भूमि पर सभी त्रैवर्णिक श्रद्धाभक्ति पूर्वक अनेक यज्ञों का अनुष्ठान करते थे । उस समय कोई भी द्विज ऐसा नहीं था जो वेदों का अध्ययन न करता हो अथवा अग्न्याधान (अग्निहोत्र) न करता हो । इस समय सैकड़ों हजारों में कोई अग्निहोत्री नहीं दिखलाई देता । सैकड़ों में कोई सोमपान करनेवाला नहीं दिखलाई देता, एक भी यथावत् वेदाध्ययन करने वाला श्रोत्रिय नहीं दिखलाई देता ।

वर्त्तमान कराल-कलिकालके इस भयङ्कर प्रभाव से अत्यल्प संख्यामें याज्ञिक देखने में आते हैं । आज तो वेद के एक अक्षर को भी न जानकर अपने को समस्त वेदाध्ययन-शील बतलाने वाले अधिक मिलते हैं । दर्श-पूर्णमास की भी

प्रक्रिया न जानने वाले अपने को अश्वमेध-याजी कहने का भी दुस्साहस करते पाए जाते हैं।

अस्तु, अब मेरी भूतभावन भगवान् विश्वनाथ के चरणों में प्रार्थना है कि यह देश पुनः अपनी प्राचीन उन्नति के लिए अग्रसर हो, घर घर में त्रेताग्नियाँ प्रज्वलित हों, सबलोग पुनः अपने मुख्य धर्म यज्ञादि पर आरूढ़ हों, देवता लोग तृप्त हों, प्रसन्न देवता लोग यजमानों को अभीष्ट फल प्रदान करें, भारतीय आर्य-जाति में परस्पर प्रेम की अधिकता हो तथा यह भूमण्डल-मूर्द्धन्य पवित्र भारत-भूमि एवं आर्य जाति पुनः **"सत्यमेवजयते नानृतम्"** के अवलम्ब से विश्व-विजयी बने।

वेद और कर्मकाण्ड-शिक्षा की आवश्यकता—

एक दिन वह था जब कि ब्राह्मणों के प्रत्येक घर में वेदों के स्वाध्याय की पवित्र ध्वनि कानों में गूँजा करती थी परन्तु आज कुटिल कालचक्र के प्रभाव से वेदों की ध्वनि होनी तो दूर रही, प्रत्युत ढूँढने से भी ब्राह्मणों के घरों में वेद–स्वाध्यायी बालक नहीं मिलते। आधुनिक ब्राह्मण–गण अपने–अपने सन्तानों को वैदिक–शिक्षा के स्थान में अंग्रेजी आदि शिक्षाओं से शिक्षित करने लग गये। यही कारण है कि—दिनानुदिन वेद-वेदाङ्ग का ह्रास प्रत्यक्ष दृष्टि-पथ पर आ रहा है।

एक दिन वह था जब कि घर-घर में वैदिक विद्वान् सुसाध्य थे, पर आज हमारे सामने वह समय भी प्रस्तुत है कि अन्वेषण करने पर भी १०–५ वेदज्ञ (वेद–वेदाङ्ग ज्ञाता) नहीं मिलते और तो और काशी जैसे विद्याकेन्द्रों में भी इस बात का पूर्णतः अभाव दिखाई देने लगा है। विशेष विचारणीय विषय तो यह है कि—आज काशी में भी वेद का जो कुछ प्रसार–प्रचार है वह केवल शुक्ल यजुर्वेद का ही है। अन्य ऋग्वेदादि के वास्तविक ज्ञान रखने वाले तो इने गिने विद्वान् ही नज़र आते हैं। जो लोग इन तीन वेदों के ज्ञाता हैं उनमें विशेषतया दाक्षिणात्य विद्वान् ही अधिक संख्या में पाये जाते हैं। पञ्चगौड़ों में तो इसका सर्वथा अभाव सा ही होने जा रहा है। पञ्चगौड़ों को शुक्ल यजुर्वेदातिरिक्त अन्य वेदों के अध्ययनाध्यापनादि की सुव्यवस्था नहीं है, यदि कहीं पर है भी तो वह केवल शुक्ल यजुर्वेद मात्र की ही है।

इस अभाव की पूर्ति के लिये काशी के सुप्रसिद्ध शास्त्रानुरागी दानवीर सेठ श्री गौरीशङ्कर जी गोयनका महोदय ने मेरे स्वर्गीय पिताजी (महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधर जी गौड) की विशेष प्रेरणा से अपने काशीस्थ जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय में चारों वेदों के भिन्न भिन्न वेदाध्यापकों की नियुक्ति की है। इस प्रशंसनीय आयोजन को हुए भी आज प्रायः १०–११ वर्ष हो रहे हैं, किन्तु इस सुव्यवस्था से जितना लाभ आज भी पञ्चद्राविड अध्ययनशीलों को हो रहा है उतना पञ्चगौड़ों को नहीं हो रहा है, यह निश्चित है।

इसी प्रकार की चिन्तनीय अवस्था कर्मकाण्ड-शिक्षा के सम्बन्ध में भी है। कर्मकाण्ड की तो आज यहाँ तक नौबत आ पहुँची है कि-बड़े बड़े विद्या-केन्द्रों में खोजने पर भी कर्मकाण्ड निपुण विद्वान् प्राप्त नहीं होते। इसका मुख्य कारण है कर्मकाण्ड-शिक्षा का पूर्णतया अभाव। कुछ समय की ही बात है कि कर्मकाण्ड-कुशल विद्वान् अपने-अपने शिष्यों को कर्मकाण्ड की शिक्षा दिया करते थे तथा शिष्यगण भी परिश्रम पूर्वक कर्मकाण्ड में कुशल होने के लिये अनवरत रात्रिन्दिवा परिश्रम किया करते थे। किन्तु आज न तो कोई छात्र कर्मकाण्ड सीखना चाहता है और न गुरुजन ही सिखाने के लिये प्रयत्नशील होते हैं।

विशेषतः आज के परीक्षा-युग ने तो और भी छात्रों का जीवन खतरे में डाल दिया। जिस वेद का यह कर्मकाण्ड 'प्राण' समझा जाता है उस कर्मकाण्ड-शिक्षा की यह हालत है कि काशीस्थ गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज की वेद की परीक्षा में वेद-प्रथमा से लेकर वेद की आचार्य परीक्षा पर्यन्त उस विषय का एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं रक्खा गया है जिससे कर्मकाण्ड के शिक्षण में सहायता मिल सके। इस प्रकार की सर्वतोमुखी कर्मकाण्ड परीक्षा के अभाव को देखते हुए ऐसा कौन सहृदय होगा जिसे कुछ काल के लिए पश्चात्ताप भी न हो। इस विषय में यदि परीक्षाओं के अधिकारी मण्डल विशेष दत्तचित्त होकर ध्यान देते हुए कम से कम वेद की ही परीक्षाओं में कर्मकाण्डोपयोगी सुन्दर-सुन्दर ग्रन्थों का समावेश कर दें तो अवश्यमेव कर्मकाण्ड-शिक्षार्थियों का प्रचुर लाभ हो सकता है, अन्यथा रही सही अवशिष्ट श्वास-प्रश्वासरूपी कर्मकाण्ड-शिक्षा और भी बिलीन हो जायगी। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि-ब्राह्मण-बन्धु-गण यज्ञ-यागादि के नाम निशान तक को भूल जाँयगे और अपनी प्राचीन मर्यादा को रसातल में पहुँचाते हुए

संसार के समक्ष मूर्खपदावलम्बी होते हुए उसी नाम को विशेष चरितार्थ करेंगे।

आज का यज्ञ

गीता जैसे विश्वविश्रुत ग्रन्थ में *सात्त्विक यज्ञ का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। इसी लिये प्राचीन काल के ऋषि-महर्षि लोककल्याणार्थ सात्त्विक यज्ञ ही किया करते थे। निष्काम भाव से किये गये सात्त्विक यज्ञ का जो फल होना चाहिये वह फल प्रत्यक्षरूप में भारत-वासी अनुभव करते थे। परन्तु खेद है आज उस परम पुनीत 'सात्त्विक यज्ञ' के बदले †राजसिक तथा ‡तामसिक यज्ञ का व्यवहार होने लगा है।

सात्त्विक यज्ञ का महान् फल है और इससे समस्त लोक का कल्याण होता है ऐसी स्थिति में भी इस यज्ञ से विमुख होने का एक मात्र कारण है अपनी स्वतन्त्ररूप से स्वार्थसिद्धि करना। इधर वर्षों से जो यज्ञादि अनुष्ठान हो रहे हैं उनमें स्वार्थसिद्धि का ही रोग लगा हुआ प्रत्यक्ष दृष्टि में दिखाई दे रहा है। कोई द्रव्य प्राप्ति के लिये, कोई सन्तान प्राप्ति के लिये, कोई स्कूल पाठशाला के लिये, कोई मठ-मन्दिर के लिये, कोई अपनी कीर्ति विख्यात करने के लिये, इत्यादि विविध रूपों में स्वार्थ सिद्धि की आड़ में यज्ञ रूपी नाटक की रचना कर अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति में सबसे अधिक सहयोग हमारी भोली-भाली विद्वन्मण्डली का रहता है। यह सरस्वती के सच्चे पुजारी अपनी मान मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर स्वल्प द्रव्य के लोभ से कई मास पूर्व ही यज्ञाध्यक्षों के निवास स्थान की प्रदक्षिणा करते फिरते हैं। **'सेवा-धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'** के अनुसार सेवा-धर्म के प्रभाव के कारण जिन लोगों के नाम कृपा-लिष्ट में दर्ज हो जाते हैं वे लोग अपना और अपने पूर्व-पुरुषों का बड़ा ही सौभाग्य समझते हैं। यज्ञादि कर्म समाप्त हो जाने पर यजमान याज्ञिक विद्वानों को थोड़ा बहुत द्रव्यादि देकर चाहे वह सन्तुष्ट हों या असन्तुष्ट उन्हें हठात् यज्ञ-मण्डप से बिदाई कर यज्ञीय समस्त धन स्वयं हजम कर जाते हैं और उस ब्राह्मणांश द्रव्य द्वारा स्वयं लाभ उठाते हुए अपनी स्वार्थ सिद्धि पूर्ण करते हैं। इस प्रकार के अविहित तामसिक यज्ञ और तामसिक वृत्ति वाले यज्ञ-कर्त्ताओं से विद्वानों को सर्वदा सतर्क रहना चाहिये।

---

* गीता १७।११, † गीता १७।१२, ‡ गीता १७।१३।

यज्ञ-विषय में नास्तिकों के अनर्गल आक्षेप का समाधान

मत्स्यपुराण (९३।१११) आदि में **'नास्ति यज्ञसमो रिपुः'** का जो उल्लेख किया गया है, इसको लेकर यदा कदा कुछ * नास्तिक वर्ग यज्ञ पर अनेक रूप से आक्षेप किया करते हैं। किन्तु उन्हें यह भी समझना चाहिये कि उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किसके लिये और क्यों किया गया है ! मत्स्यपुराणादि में जहाँ पर दक्षिणा आदि के रहित यज्ञ की निन्दा की गई है वहीं पर **'नास्ति यज्ञसमो रिपुः'** का उल्लेख कर सूचित किया है कि—'यज्ञ-कर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस श्रेष्ठ कर्म में जो यजमान शास्त्र-विधि के अनुकूल दक्षिणा आदि द्वारा आचार्यादि ऋत्विजों का पूर्ण सम्मान करते हैं उनके लिये यह यज्ञ सर्वप्रकार से सुखप्रद होता है और जो लोग शास्त्रविधि के विपरीत आचरण करते हैं अर्थात् दक्षिणा आदि में गड़बड़ी करते हैं उनके लिये वही श्रेष्ठकर्म (यज्ञ) शत्रु-रूप में परिवर्तित होकर उनका नाश कर देता है। अतः निष्कर्ष यह है कि विधिहीन यज्ञकर्ता के लिये ही **नास्ति यज्ञसमो रिपुः'** इस वाक्य का कुप्रयोग किया गया है न कि समस्त संसार के लिये।

शतमुख कोटिहोम और श्रीकरपात्री जी

शास्त्रों की अवलोकन परम्परा से यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि—विश्व-कल्याण की सुख-शान्ति के लिये **'कोटिहोम'** से बढ़कर कोई प्रयोग नहीं है। किन्तु इस प्रयोग को सम्पन्न करने के लिये कोटिहोम की प्राणाणिक पद्धति और प्रामाणिक ठोस विद्वान्—जो कि साङ्गोपाङ्ग वेद तथा शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता एवं धर्मशास्त्रव्यवस्थापक हो—का होना परमावश्यक है। अन्यथा कर्म में अवैधता हो जाने का विशेष डर रहता है। अवैधरूप से किया हुआ कर्म विश्व में शान्ति की जगह अशान्ति की वृद्धि करता है, यह निश्चित है।

इतिहासों के अवलोकन से अवगत होता है कि—कोटिहोम का प्रचार प्राचीन समय में अत्यधिक था किन्तु इधर सैकड़ों वर्षों से कोटिहोम का बिलकुल अभाव सा हो गया था। फल-स्वरूप परिणाम यह हुआ कि शनैः शनैः उस महनीय महायज्ञ के स्वरूप से पठितापठित सभी लोग अपरिचित होने लगे। कतिपय व्यक्ति-विशेष जो इस यज्ञ के स्वरूपादि से परिचित भी थे वह भी इस महायज्ञ

---

* 'नास्तिको वेद-निन्दकः'

के विस्तृत विधि-विधान के स्मरण-मात्र से ही अपने-आप को सर्वथा शक्ति-हीन समझ कर चुप साध लेते थे। इस प्रकार की संसार की धार्मिक असमर्थता और उपेक्षा के कारण कोटिहोमादिका ही नहीं, अपि तु छोटे-छोटे अन्य यज्ञ-यागादि के भी नाम-निशान तक मिटने लगे। जिसका दुष्परिणाम यह हुआ—यज्ञादि धार्मिक कृत्यों के न होने से संसार के समस्त प्राणी अनेक प्रकार की दुःखराशि में मग्न होने लगे। संसार की भीषण परिस्थिति से ऊब कर विश्वकल्याणार्थ भारतप्रसिद्ध त्याग-तपोमूर्ति दण्डीस्वामी **श्रीकरपात्रीजी** महाराज ने धर्म-प्रचार के कठिन व्रत को धारण करते हुए भारत के प्रधान-प्रधान केन्द्रों में भ्रमण कर धर्म में जो अलौकिक जाग्रति का नया जीवन-सञ्चार उत्पन्न किया है वह किसी भी सनातनधर्मावलम्बी से तिरोहित नहीं है। आप के सत्य सङ्कल्प का ही महान् प्रभाव है कि—आज समस्त देशों और प्रान्तों के कोने-कोने में धर्म का पूर्ण प्रचार हो रहा है तथा समस्त देशवासी धर्म के कट्टर अनुयायी बनते जा रहे हैं। साथ ही समस्त धार्मिक जनता अगणित संख्या में एकत्रित होकर श्रद्धा-भक्ति से अनेक तरह के जप, तप, पूजा,पाठ, यज्ञानुष्ठादि सत्कार्यों को करते हुए अपना और देश का कल्याण कर रहे हैं।

त्यागमूर्ति श्रीकरपात्री जी के सत्यसङ्कल्प के चमत्कार का ही फल था कि युद्धजन्य भीषण मँहगी के युग में भी भारत की विख्यात राजधानी देहली और व्यापार के मध्य केन्द्र कानपुर में निर्विघ्न कोटिहोम महायज्ञ सम्पन्न हुए।

देहली तथा कानपुर के महायज्ञ सविधि सम्पन्न हुए या नहीं ? इस राग-द्वेषात्मक झगड़े में न पड़ते हुए इतना अवश्य वक्तव्य है कि—उपर्युक्त दोनों महायज्ञों में कानपुर की अपेक्षा देहली का महायज्ञ अधिक सफल बन सका। देहली के यज्ञ को साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न करने के लिये **संसार के** मुख्य मुख्य अनेक धर्मप्रेमी सेठ-साहूकारों का तन, मन, धन से पूर्ण सहयोग प्राप्त था। किन्तु उस यज्ञ का सब से अधिक श्रेय अनेक धर्म-संस्थाओं के संस्थापक काशीनिवासी सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ श्रीगौरीशङ्कर जी गोयनका महोदय को है, जिन्होंने शास्त्रोक्त पद्धति के अनुकूल आचार्यादि हजारों ऋत्विजों को तथा सभी निमन्त्रित अन्य विद्वानों को यथापद स्वयं अपनी ओर से कई लक्ष रुपया सौवर्णी (गिन्नी) दक्षिणा के रूप में प्रदान कर शतमुख कोटिहोम को सर्व-प्रकार से सफलीभूत बना कर द्विजाति मात्र को स्व-धर्म कर्तव्य-परिपालन का पाठ पढ़ाया।

गत संवत् २००० में देहली और संवत् २००१ में कानपुर में जो महायज्ञ हुए हैं, वह केवल विश्वकल्याण की कामना के उद्देश्य को लेकर ही किये गए हैं। उसी उद्देश्य को लेकर आज वही महायज्ञ धर्म तथा विद्या के प्रधान केन्द्र श्री काशी-धाम में सुसम्पन्न होने जा रहा है। इस यज्ञ के सम्बन्ध में 'धर्म-सङ्घ' की ओर से प्रकाशित अनेक समाचारों के अवलोकन से अनुमान होता है कि यह महायज्ञ देहली और कानपुर के यज्ञों की अपेक्षा सभी बातों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

ग्रन्थ-प्रणयन का उद्देश्य और धन्यवाद प्रदान

यज्ञ-प्रतिष्ठादि के सम्पादनार्थ जब कभी मुझे काशी के बाहर जाने का मौका मिलता था तो वहाँ की सर्वसाधारण जनता यज्ञ-विषय को लेकर मुझ से अनेक प्रश्न किया करती थी। वही क्रम अधुनापि काशी में प्रचलित सा है। दूर-दूर के जिज्ञासुओं के यज्ञ-सम्बन्ध में अनेक मार्मिक प्रश्न मेरे पास प्रायः आया करते हैं। अतः यज्ञ-प्रेमियों की इस आवश्यकता की कमी को दूर करने के लिये चिरकाल से ही मेरा दृढ़ विचार था कि—यज्ञ-सम्बन्ध में एक ऐसी सर्वसाधारणोपयोगि पुस्तक लिख कर जनताजनार्दन की सेवा में भेंट करूँ जिस से पठितापठित सभी लोग लाभ उठा सकें। किन्तु मैं सम्भवतः **'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते'** वाले न्याय के चक्कर में व्यापृत रहने के कारण अब तक अपने आवश्यक कार्य की पूर्ति में पिछड़ा रहा। किन्तु बीच-बीच में पुस्तक-सम्पादनार्थ अनेक विशिष्ट व्यक्तियों का इतना अधिक प्रोत्साहन मुझे प्राप्त हुआ जिस कारण मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति पुस्तक-प्रणयन की ओर जागरूक हो गई। फलस्वरूप मैंने पुस्तक लिखने का 'श्रीगणेश' कर दिया और भगवत्कृपा से सानन्द सकुशल पुस्तक शीघ्र ही तैयार कर सका। पुस्तक-प्रणयन के विषय में जिन आदरणीय महानुभावों का मुझे गौरव-पूर्ण हार्दिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है उन में से कुछ नाम देखिए—

(१) रायबहादुर श्रीयुत पं० श्रीदत्तजी शास्त्री गौड़ वैद्यराज (आनरेरी मजिस्ट्रेट एवं सब—जज, भिवानी)।

(२) सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीयुत पं० माधवाचार्य जी शास्त्री शास्त्रार्थमहारथी (कौल, करनाल)।

(३) श्रीयुत पं० सत्यनारायण जी मिश्र व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ (वाइस प्रिन्सिपल—दरबार संस्कृत कालेज, जोधपुर स्टेट)।

(४) श्रीयुत पं० दीनानाथ जी शास्त्री 'भूषण' (धर्मोपदेशक–सनातन धर्म संस्कृत कालेज, जोधपुर स्टेट)।

(५) श्रीयुत पं० श्यामाचरण जी शास्त्री ज्योतिषी, काशी।

(६) श्रीयुत पं० कालीप्रसाद जी शास्त्री (सम्पादक-'संस्कृतम्' अयोध्या)।

(७) श्रीयुत पं० राजनारायण जी शास्त्री शुक्ल न्यायाशास्त्राद्याचार्य (अध्यक्ष–शास्त्रार्थ महाविद्यालय, काशी)।

(८) श्रीयुत पं० जगदानन्द झा शास्त्री, वेदाचार्य (प्रधानाध्यापक–महाराजा संस्कृत वेद विद्यालय पञ्चकोट राज्य)।

हम उपर्युक्त महानुभावों के तो हृदय से कृतज्ञ हैं ही, किन्तु उनमें भी अधिकरूप से अपने प्रिय-बन्धु न्यायाचार्य श्रीयुत पं० राजनारायण जी शुक्ल महोदय के विशेष अनुगृहीत हैं जिनके प्रोत्साहन तथा विशेष सहयोग द्वारा ही हम अपने लघुभूत ग्रन्थ को तैयार कर सके। सच तो यह है कि—श्री शुक्लजी की सहायता के बगैर इतने अल्प समय में शीघ्र पुस्तक का निकालना मेरे लिये कठिन कार्य था। अतः श्रद्धेय शास्त्री जी हमारे लिये विशेष धन्यवादार्ह हैं।

वस्तुतः इस पुस्तक का गौरवपूर्ण समस्त श्रेय हमारे परम हितैषी परोपकार हृदय संस्कृतविद्यानुरागी श्रीयुत बाबू बैजनाथ प्रसाद जी (अध्यक्ष—मास्टर खेलाड़ीलाल ऐण्ड सन्स, संस्कृत बुकडिपो, काशी) महोदय को है जिनकी कागज आदि दुर्लभ वस्तुओं की सहायता से ही हम आज परम पुनीत यज्ञ के शुभावसर पर अपनी कृति 'यज्ञ–मीमांसा' के प्रथम–भाग को विद्वज्जन की शुभ-सन्निधि में भेंट कर रहे हैं। इसके लिये हम बाबू साहब को अनेकानेक धन्यवाद देते हुए सर्वशक्तिमान् प्रभु से हार्दिक प्रार्थना करते हैं कि—वे इनके सर्वविध सुख–साधन में सर्वदा उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहें।

पुनश्च—हम इस पुस्तक के द्वितीय संस्करणादि का समस्त अधिकार सर्वदा के लिए बाबू बैजनाथ प्रसाद जी को ही दे रहे हैं। आशा है, वहहमारी प्रार्थना को स्वीकार कर भविष्य में इस पुस्तक को अपनाते हुए हमें अनुगृहीत करेंगे।

हार्दिक सङ्कोच और अन्तिम निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक 'यज्ञ–मीमांसा' के लिखने और प्रकाशन के लिये जितना पर्याप्त समय मुझे मिलना चाहिये था उतना नहीं मिल सका। कुछ मित्रों की

राय हुई कि—'यदि पुस्तक निकालने का विचार ही है तो काशी में होने वाले कार्तिक मास के महायज्ञ के अवसर पर ही पुस्तक निकाल दो।' यज्ञ के दिनों की गणना करने पर हमें मालूम हुआ कि यज्ञ के केवल चौबीस दिन ही अवशिष्ट हैं। इन्हीं चौबीस दिनों में अनेक ग्रन्थों का अनुसन्धान, प्रेस-कापी तथा पुस्तक-प्रकाशनादि अनेक कार्ग-समूहों से मुकावला करते हुए पुस्तक तैयार करने में चित्त डाँवाडोल तो अवश्य हुआ किन्तु भगवत्कृपा तथा हितैषी वन्धुओं के प्रोत्साहन से चित्त में उत्साह एवं धैर्य का विशेष पुट मिला, जिसके वल पर पुस्तक लिखी गई और पुस्तक का प्रकाशन कार्य भी आरम्भ हो गया। यह सव होते हुए भी समय की स्वल्पता तथा अध्यापनादि नानाविध प्रपञ्चों के कारण प्रस्तुत पुस्तक को जिस रूप में सर्वाङ्ग परिपूर्ण वनाने का मेरा हार्दिक विचार था वह पूर्ण न हो सका। अन्ततोगत्वा पुस्तक में प्रकाशित सभी लेखों के कलेवर में सङ्कोच करना पड़ा और वहुत से आवश्यक लेखों को पुस्तक से निकालना पड़ा। अत एव हमने इस पुस्तक को 'प्रथम भाग' का रूप दिया। भगवत्कृपा तथा पाठकों का पुनः विशेष अनुरोध प्रतीत होगा तो हम उक्त पुस्तक का अन्य द्वितीय-भाग वहुत शीघ्र प्रकाशित करेंगे। जिसमें वैदिकों तथा सर्वसाधारण के लिये अनेक गम्भीर दुर्लभ विषयों का सङ्कलन होगा।

जिस प्रकार ग्रन्थ में सर्व-प्रकार से लेखादि में सङ्कोच करना पड़ा है उसी प्रकार इसकी '**भूमिका**' में भी हमें वाध्य हो कर वहुत सङ्कोच करना पड़ा। आशा है, इन सव विषयों का पूर्णतः परिमार्जन इस पुस्तक के '**द्वितीय-संस्करण**' में होगा। '**गच्छतः स्खलनं क्वापि**' इस सुप्रसिद्ध सदुक्ति के अनुसार मानस-जन्य तथा मुद्रण-दोषादि समस्त स्वाभाविक त्रुटियों को नीर क्षीर-विवेकशील महानुभाव अवश्य क्षमा करेंगे, ऐसी पूर्ण आशा है।

अन्त में सर्वान्तर्यामी यज्ञ-पुरुष भगवान् से प्रार्थना है कि वे द्विजातिमात्र के पवित्र हृदयों में वेद-वेदाङ्ग के स्वाध्याय की ओर रुचि उत्पन्न करते हुए वेद के प्रधान अङ्ग यज्ञ में श्रद्धा-भक्ति का अस्तित्व उत्पन्न करें।

गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, काशी
देव-प्रबोधिनी एकादशी
अक्टूबर, १९४४ ई०

वेद-वेदाङ्गोपासक—
वेणीराम शर्मा गौड

❀ विषय-सूची ❀

॥ श्रीयज्ञपुरुषाय नमः ॥

यज्ञ-मीमांसा

विघ्नौघध्वान्तविध्वंस-भास्करायित-विग्रहम् ।
अवलम्बे निरालम्बः साम्बं शिवमहर्निशम् ॥ १ ॥
वेदविद्याधरं साक्षाच्छ्रीविद्याधरसंज्ञकम् ।
पितरं स्व-पितृव्यञ्च शिवदत्तमुपास्महे ॥ २ ॥
वेद-विज्ञान-मीमांसा-गृह्यभाष्यादिलेखकाः ।
श्रीवेणीरामशर्माणः पारम्पर्यक्रमागताम् ॥ ३ ॥
तन्वते यज्ञ-मीमांसां मीमांसुजनवल्लभाम् ।
याज्ञिकानां विनोदाय वेदविद्याविदामपि ॥ ४ ॥

यज्ञ-शब्दार्थ

'यज' धातु से 'यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्' [३।३।९०] इस पाणिनीय सूत्र से 'नङ्' प्रत्यय करने पर 'यज्ञ' शब्द बनता है। 'नङन्तः' इस पाणिनीय लिङ्गानुशासन से 'यज्ञ' शब्द पुल्लिङ्ग भी होता है। 'नङ्' प्रत्यय भाव अर्थ में होता है किन्तु 'कृत्यल्युटो बहुलम् [३।३।११३] इस सूत्र पर 'बहुलग्रहणं कृन्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थम्' इस सिद्धान्त से कृदन्त के सभी प्रत्ययों का अर्थ आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया जा सकता है। यही भाष्यकारादिसम्मत मार्ग है।

धातु-पाठ में 'यज्' धातु का पाठ किया गया है। 'धातवः अनेकार्थाः' इस वैयाकरणसिद्धान्त के अनुसार कतिपय आचार्यों ने देवपूजा, सङ्गतिकरण, और दान इन तीन अर्थों में इस का प्रयोग किया है। प्रायः यही सर्वसम्मत भी है। अतः यज्ञ शब्द के अनेक अर्थ तथा अनेक व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं।

देवपूजा

(१) यजनं इन्द्रादि-देवानां पूजनं सत्कारभावनं यज्ञः ।

(२) इज्यन्ते (पूज्यन्ते) देवा अनेनेति यज्ञः ।

(३) इज्यन्ते देवा अस्मिन्निति यज्ञः ।

(४) इज्यते देवेभ्यः अस्मिन्निति यज्ञः ।

(५) इज्यते असौ इति यज्ञः (विष्णुः*) ।

(६) इज्यन्ते सम्पूजिताः तृप्तिमासाद्यन्ते देवा अत्रेति यज्ञः ।

'इन्द्रादि देवों का पूजन तथा सत्कार यज्ञ कहा जाता है। देवताओं की पूजा जिस से की जाय उसे यज्ञ कहते हैं। देवताओं की पूजा जिस में हो उसे यज्ञ कहते हैं। देवताओं के लिये कर्मविशेष का अनुष्ठान किया जाय जिसमें उसे यज्ञ कहते हैं। पूजा किये जाने वाले अर्थात् भगवान् विष्णु को यज्ञ कहते हैं। देवगण पूजित होकर जिस कार्य में तृप्त हों उसे यज्ञ कहते हैं।'

सङ्गतिकरण

(१) यजनं धर्म—देश—जाति—मर्यादारक्षायै महापुरुषाणामेकीकरणं यज्ञः ।

(२) इज्यन्ते विश्वकल्याणाय महान्तो विद्वाँसः वैदिकशिरोमणयः व्याख्यानरत्नाकराः निमन्त्र्यन्ते परमहँसपरिव्राजकाचार्य-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीस्वामिकरपात्रिसदृशमहापुरुषैः अस्मिन्निति यज्ञः ।

(३) इज्यन्ते सङ्गतीक्रियन्ते विश्वकल्याणाय परिभ्रमणं कृत्वा सार्वदेशिकाः पण्डितप्रवराः इन्द्रप्रस्थसदृशमहानगरेषु त्यागतपोमूर्तिब्रह्मनिष्ठ-श्रीस्वामिकृष्णबोधाश्रमसममहात्मभिरस्मिन्निति यज्ञः ।

* यज्ञो वै विष्णुः (श० ब्रा० १।१।१।२)
यज्ञो वै विष्णुः (तैत्ति० सं० १।७।४)

(४) इज्यन्ते स्वकीयबन्धु-बान्धवादयः प्रेमसम्मानभाजः सङ्गतिकरणाय आहूयन्ते प्रार्थ्यन्ते च येन कर्मणेति यज्ञः ।

'धर्म, देश, जाति (वर्णाश्रम) की मर्यादा की रक्षा के लिये महापुरुषों को एकत्रित करना यज्ञ कहलाता है । विश्वकल्याण के लिये परमहंस परिव्राजकाचार्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्र दण्डीस्वामी **श्री करपात्री जी** के सदृश महापुरुषों द्वारा बड़े बड़े विद्वान् वैदिकमूर्धन्य, व्याख्यानवाचस्पति लोग जहाँ निमन्त्रित किये जाते हों उसे यज्ञ कहते हैं । विश्व कल्याण के लिये जगत्भ्रमण करके त्यागतपोमूर्ति ब्रह्मनिष्ठ **श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी** महाराज के सदृश महात्माओं द्वारा सार्वदेशिक बड़े बड़े विद्वानों को निमन्त्रित कर इन्द्रप्रस्थ (देहली) जैसे महानगरों में सङ्गतिकरणार्थ विशेष प्रयत्न किया जाता हो जिसमें उसे यज्ञ कहते हैं । अपने बन्धु-बान्धव आदि स्नेहियों के परस्पर सम्मिलन के लिये आमन्त्रित किया जाय जिस सदनुष्ठान में उसे यज्ञ कहते हैं ।'

दान

(१) यजनं यथाशक्तिदेश-काल-पात्रादिविचारपुरस्सरद्रव्यादित्यागः ।

(२) इज्यते देवतोद्देशेन श्रद्धापुरस्सरं द्रव्यादि त्यज्यते अस्मिन्निति यज्ञः ।

(३) इज्यन्ते सन्तोष्यन्ते याचका येन कर्मणा स यज्ञः ।

(४) इज्यते भगवति सर्वस्वं निधाप्यते येन वा स यज्ञः ।

(५) इज्यन्ते चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्याः सच्छिष्येभ्यः सम्प्रदीयन्ते (उपदिश्यन्ते) सदाचार्य्यैर्येन वा स यज्ञः ।

'यथाशक्ति देश, काल, पात्रादि विचारपुरस्सर द्रव्योत्सर्ग करने को यज्ञ कहते हैं । श्रद्धापूर्वक देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग किया जाय जिसमें उसे यज्ञ कहते हैं । जिस कर्म से याचकों को सन्तुष्ट किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं । जिस कर्म से अपना सर्वस्व भगवदर्पण किया जाय उसे यज्ञ कहते

हैं। चारों वेद साङ्गोपाङ्ग उत्तम शिष्यों के लिये योग्य आचार्यों द्वारा उपदिष्ट किये जाते हों जिससे उसे यज्ञ कहते हैं।'

(१) मन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानं यज्ञः।

(२) यागाङ्गसमूहस्य एकफलसाधनाय अपूर्ववान् कर्मविशेषो यागः।

(३) येन सदनुष्ठानेन इन्द्रप्रभृतयो देवाः सुप्रसन्नाः सुवृष्टिं कुर्य्युस्तत् यज्ञपदाभिधेयम्।

(४) येन सत्कर्मानुष्ठानेन स्वर्गादिप्राप्तिः सुलभा स्यात् तत् यज्ञपदाभिधेयम्।

(५) येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्णं विश्वं कल्याणं भजेत् तत् यज्ञपदाभिधेयम्।

(६) येन सदनुष्ठानेन आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक-तापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात् तत् यज्ञपदाभिधेयम्।

'मन्त्रों के द्वारा देवताओं को उद्देश्य कर के द्रव्य का दान याग कहलाता है। यागाङ्ग-समूह के एक फल साधन के लिये अपूर्व से युक्त कर्म विशेष को याग कहते हैं। जिस सदनुष्ठान द्वारा इन्द्रादि देवता प्रसन्न होकर वृष्टि प्रदान करें उसे यज्ञ कहते हैं। जिस सदनुष्ठान द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति हो उसे यज्ञ कहते हैं। जिस सदनुष्ठान द्वारा संसार का कल्याण हो उसे यज्ञ कहते हैं। जिस सदनुष्ठान द्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हों उसे यज्ञ कहते हैं।'

यज्ञ शब्द के कतिपय वेद-प्रतिपाद्य अर्थ

(१) तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्या—पुरोऽनुवाक्यावन्तो यजतयः। (का० श्रौ० १।२।६)

(२) यत्र प्रक्षेपाङ्गको देवतोद्देशपूर्वको द्रव्यत्यागोऽनुष्ठीयते स यागपदार्थः। (भाट्टदीपिका, ४।२।१२)

(३) दैवतं प्रति स्व-द्रव्यस्योत्सर्जनं यज्ञः ।

(यज्ञपरिभाषासूत्रटीका, धूर्तस्वामी)

(४) यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः । याच्ञ्यो भवतीति वा यजुर्भिरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः यजूंष्येनं नयन्तीति वा । [निरुक्त, ३।४]

यज्ञ क्या है ?

यज्ञो वै श्रेष्ठतरं कर्म ।	(श० ब्रा० १।७।१।५)
यज्ञो वै श्रेष्ठतरं कर्म ।	(कपि० शा० ४६।६)
यज्ञो वै कर्म ।	(श० ब्रा० १।१।१।१)
यज्ञो वै विष्णुः ।	(श० ब्रा० १।१।१।२)
यज्ञो वै विष्णुः ।	(तैत्तिरीय संहिता, १।७।४)
यज्ञो वै मखः ।	(तैत्ति० सं० ३।२।८।३)
यज्ञो वै परशुः ।	(श० ब्रा० ३।६।४।१०)
यज्ञो वा आपः ।	(श० ब्रा० १।१।१।१)
यज्ञो वा अनः ।	(श० ब्रा० १।१।१।२)
यज्ञो वै प्रावित्रम् ।	(श० ब्रा० १।४।३।५।२)
यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्यः ।	(श० ब्रा० १।१।१।२।२)
यज्ञो यज्ञपतिः ।	(विष्णुसंहिता)
यज्ञः प्रजापतिः ।	(श० ब्रा० ११।६।३।९)
यज्ञ एव सविता ।	(गो० ब्रा० पू० १।३३)
यज्ञ उ वै प्रजापतिः ।	(कौ० १०।१)
विष्णुर्वै यज्ञः ।	(मै० शा० ४।६।२)

विष्णुर्वै यज्ञः। (ऐ० ब्रा० १।१५)
प्रजापतिर्यज्ञः। (श० ब्रा० १।१।१।१)
प्रजापतिर्वै यज्ञः। (तै त्ति० १।३।१०।१०)
प्रजापतिर्वै यज्ञः। (गोपथ ब्रा० पू० २।१८)
प्रथमो हि यज्ञः। (कपि० शा० ४०।२०)
पुरुषो वै यज्ञः। (श० ब्रा० १।२।४।३।२)
अग्निर्वै यज्ञः। (ताण्ड्यब्रा० १२।५।२)
अध्वरो वै यज्ञः। (श० ब्रा० १।२।४।५)
इन्द्रो वै यज्ञः। (मै० शा० ४।३।७)
एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः। (श० ब्रा० ४।३।४।३)
स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः। (श० ब्रा० १४।१।१।६)
वाग्वै यज्ञः। (श० ब्रा० १।१।१।२)

×यज्ञ और महायज्ञ

यज्ञ के दो भेद होते हैं—एक यज्ञ, दूसरा महायज्ञ। यज्ञ तथा महायज्ञ के स्वरूप तथा इसकी विशेषता का वर्णन महर्षि भारद्वाज ने इस प्रकार किया है—

'यज्ञः कर्मसु कौशलम्' 'समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः।'

'कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे 'यज्ञ' कहते हैं। 'पश्चात् व्यष्टि-सम्बन्ध होने से उसीको 'महायज्ञ' कहते हैं।'

इसी बात को महर्षि अङ्गिरा ने भी कहा है—

'यज्ञ—महायज्ञौ व्यष्टि—समष्टिसम्बन्धात्।

'व्यष्टि—समष्टि सम्बन्ध से यज्ञ—महायज्ञ कहे जाते हैं।'

× यह लेख हमारे 'गृहस्थ के पञ्चमहायज्ञ का विवरण' शीर्षक लेख का एक अंश मात्र है, जो कि कल्याण के विशेषाङ्क 'साधनाङ्क' में प्रकाशित हो चुका है।

यज्ञ का फल आत्मोन्नति तथा आत्मकल्याण है, उसका व्यष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उसमें स्वार्थ की प्रधानता आ जाती है। (यही इसकी न्यूनता है)

महायज्ञ का फल जगत् का कल्याण है, उसका समष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उसमें निःस्वार्थता की प्रधानता आ जाती है। (यही इसकी विशेषता है)

जिस यज्ञानुष्ठान के प्रभाव से जीव की क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदि का विनाश होता और वह परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त होता है, उस अनुष्ठान का महत्त्व सर्वमान्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

यज्ञ का स्वरूप—

श्रुति में यज्ञ पाँच प्रकार के कहे गये हैं। ऐतरेय श्रुति में लिखा है—

"स एष यज्ञः पञ्चविधः—अग्निहोत्रम्, दर्शपौर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः" इति।

अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम ये पाँच यज्ञ के भेद हैं। इन्हीं पाँच प्रकार में श्रुतिप्रतिपादित वैदिक यज्ञों की समाप्ति हो जाती है।

स्मृति में—

"औपासनहोमः, वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासिकश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः। अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विर्होमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः।

अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, अप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः।'

(गौ० ध० ८।१८)

इस प्रकार श्रौत तथा स्मार्त्त दोनों मिल कर इक्कीस संस्था कही गई हैं। उसमें स्मार्त्त सात पाकयज्ञसंस्थाओं का उल्लेख स्मृति और गृह्यसूत्रों में मिलता है। अग्निहोत्र से लेकर सोमसंस्थान्त का उल्लेख श्रौतसूत्रों में मिलता है।

यज्ञों के मुख्य भेद

प्रधानतया यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—एक श्रौत, दूसरा स्मार्त्त। श्रुति में प्रतिपादित *श्रौतयज्ञ और स्मृति में प्रतिपादित स्मार्त्त-यज्ञ कहलाते हैं।

श्रौत-स्मार्त्त यज्ञ के अतिरिक्त आधुनिक लोग 'लौकिक यज्ञ' भी करने लगे हैं किन्तु शास्त्रों में इस यज्ञ का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि श्रौत-स्मार्त्त यज्ञों का है।

गीतोक्त अनेक यज्ञ

गीता हिन्दू-धर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इस धर्मग्रन्थ में शास्त्रीय सभी विषयों का समावेश मिलता है। गीता के सतरह और चौथे अध्याय में यज्ञ पर विचार करते हुए उसके अनेक भेद बतलाये हैं। यथा—

सात्त्विक यज्ञ

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ (गीता, १७।११)

'जिस कर्म में फल की इच्छा नहीं रहती, ऐसा पुरुष जब चित्त को एकाग्र कर के अपना कर्त्तव्य समझ कर जो शास्त्रविहित यज्ञ को करता है उसे सात्त्विक यज्ञ कहते हैं।'

राजस यज्ञ

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ (गीता १७।१२)

'हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ किसी फल के उद्देश्य से और साथ ही अपने महत्त्व प्रकाशन के लिये किया जाता है उसे राजस यज्ञ कहते हैं।'

तामस यज्ञ

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ (गीता, १७।१३)

* श्रौत यज्ञों के स्वरूप का विशदरूप में परिचय प्राप्त करने के लिये देखिए—महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़ की रचित 'कात्यायनश्रौतसूत्र भूमिका'।

'जो यज्ञ शास्त्रविहित व्यवस्थानुसार नहीं किया जाता, जिस यज्ञ में सत्पात्रों को अन्न-दान नहीं किया जाता, जिस यज्ञ में उदात्तानुदात्तादि स्वरज्ञान पूर्वक मन्त्रों का उच्चारण नहीं किया जाता, जिस यज्ञ में यथा विहित दक्षिणा नहीं दी जाती और जो यज्ञ श्रद्धापूर्वक नहीं किया जाता है ऐसे यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।'

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥ (गीता ४।२८)

द्रव्य यज्ञ—द्रव्य का परोपकारार्थ शुभ-कार्यों (देवमन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, कूप, तालाब आदि का निर्माण कराना) में दान करना द्रव्य यज्ञ कहलाता है।

तपोयज्ञ—कृच्छ्र तथा चान्द्रायण जैसे कठिन व्रतों का साधन तपोयज्ञ कहलाता है।

योगयज्ञ—चित्त-वृत्ति के निरोध रूप अष्टाङ्ग योग का साधन योगयज्ञ कहलाता है।

स्वाध्याय-यज्ञ—साङ्गोपाङ्ग वेदों का अध्ययन स्वाध्याय-यज्ञ कहलाता है।

ज्ञान-यज्ञ—युक्तियुक्त वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना ज्ञानयज्ञ कहलाता है। यतिजन पूर्वोक्त द्रव्य-यज्ञादि को ही निरन्तर करते रहते हैं।

इन यज्ञों के अतिरिक्त गीता के चतुर्थाध्याय के पच्चीस, छब्बीस और सताईस इन तीन श्लोकों में **दैवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ज्ञानेन्द्रिय-यज्ञ, विषय-यज्ञ** और **कर्मेन्द्रिय** यज्ञादि का उल्लेख किया गया है। अधिकारिभेद से इन यज्ञों को मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल यथा समय किया करते हैं।

यज्ञ का उद्देश्य

सब प्रकार के यज्ञ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार के कहे गये हैं। इन यज्ञों में *सात्त्विक यज्ञ का अनुष्ठान सर्वोत्तम कहा गया है।

---

* अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ (गीता, १७।११)

अतः यज्ञ का उद्देश्य सात्त्विकता को लेकर ही होना चाहिये। सात्त्विक-यज्ञ फल-कामना का त्याग कर अर्थात् निष्कामभाव से किया जाता है। सात्त्विक यज्ञ का उद्देश्य निम्नलिखित होना चाहिए—

"दैहिक-दैविक-भौतिक तापत्रयोन्मूलनपूर्वक धर्मग्लान्यधर्माभ्युत्थानपूर्वक जाति, देश, धर्म, समाज, तत्तत्सम्प्रदायादि समस्तविश्वकल्याण-सम्पादनार्थ ऐहिक-लौकिकोभयविधसुखप्राप्ति पूर्वक महामारी प्रभृति समस्त शारीरिक, मानसिक, वाचिक कष्टों से निवृत्त होकर अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, राष्ट्रविप्लव, दुर्भिक्ष आदि के निवृत्त्यर्थ अपनी आत्मशुद्धि के साथ निष्कामभाव से पवित्र देश और शुभ-मुहूर्त्त में वेदशास्त्र के अनुकूल सद्विद्वानों द्वारा कर्म-विशेष का अनुष्ठान करना ही यज्ञों का मुख्य उद्देश्य कहा जाता है।"

उपर्युक्त उद्देश्य के अतिरिक्त जो यागादि होते हैं वे * राजसिक और † तामसिक यज्ञ कहे जाते हैं।

यज्ञ का महत्व

यज्ञाद्देवाः प्रजाश्चैव यज्ञादन्नान्नियोगिनः।
सर्वं यज्ञात्सदाभावि सर्वं यज्ञमयञ्जगत् ॥ (कालिकापुराण ३१।४०)

अखिल धर्म का मूल यज्ञ है और वह यज्ञ साक्षात् ‡विष्णुस्वरूप है। यज्ञ का ही दूसरा नाम ईश्वर है।

पूर्वकाल के प्राणी यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को भलीभाँति जानते थे और

---

* अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ (गीता, १७।१२)

† विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ (गीता, १७।१३)

‡ यज्ञो वै विष्णुः (श० ब्रा० १।१।१।२)

उन के हृदय में श्रद्धा-भक्ति का अस्तित्व था अत एव वे समय-समय पर यज्ञादि धार्मिक कार्य करते रहते थे जिस से उनका तथा संसार का कल्याण होता था। उस समय हमारा भारतवर्ष अनेक सुख-समृद्धियों से परिपूर्ण था, समस्त प्राणी सर्वप्रकार से सुखी थे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकालमृत्यु, भूकम्प, रोग-शोक का तो लोग नाम भी नहीं जानते थे। किन्तु आज के प्राणी समय के हेर-फेर से यज्ञ के महत्त्व को बिलकुल भूल बैठे हैं, इसीलिये देव-गण भी हम से असन्तुष्ट हैं देवताओं की असन्तुष्टता से ही सारा संसार पीडित है। अतः समस्त प्राणिमात्र का प्रधान कर्तव्य है कि धर्म और धर्म के प्रधान अङ्ग यज्ञ में आस्था करें, श्रद्धा करें और उपयोग में भी लावे। ऐसा करने से ही देवगण सन्तुष्ट होंगे उनकी सन्तुष्टता से ही संसार का कल्याण अवश्यम्भावी है। महर्षि अङ्गिरा ने कहा भी है—

यज्ञादिभिर्देवाः शक्ति सुखादीनाम्। 'यज्ञादि करने से देवता सन्तुष्ट होते हैं उन की सन्तुष्टता से प्राणी शक्ति और सुख की प्राप्ति करता है।'

कालिका पुराण में भी लिखा है—

यज्ञेषु देवास्तुष्यन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यज्ञेन ध्रियते पृथ्वी यज्ञस्तारयति प्रजाः॥
अन्नेन भूता जीवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
पर्जन्यो जायते यज्ञात् सर्वं यज्ञमयं ततः॥ (३२।७-८)

'यज्ञों से देवता सन्तुष्ट होते हैं, यज्ञ ही समस्त चराचर जगत् का प्रतिष्ठापक है। यज्ञ पृथ्वी को धारण किये हुए हैं, यज्ञ ही प्रजा को पापों से बचाता है। अन्न से प्राणी जीवित रहते हैं, वह अन्न बादलों द्वारा उत्पन्न होता है और बादल की उत्पत्ति यज्ञ से होती है अतः यह सारा जगत् यज्ञमय है।'

गीता में भी भगवान् ने कहा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (३।१४)

इसी प्रकार भगवान् ने गीता के नवम अध्याय के सोलहवें श्लोक में यज्ञरूप

द्वारा अपने स्वरूप का वर्णन कर यज्ञ के महत्त्व को और अधिक बढ़ा दिया है। भगवान् मनु ने भी उल्लेख किया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ (३।७५)

'अग्नि में दी हुई आहुति सूर्यदेव को प्राप्त होती है पश्चात् उससे वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है।'

महर्षि हारीत ने कहा है—

यज्ञेन लोका विमला विभान्ति, यज्ञेन देवा अमृतत्वमाप्नुयुः ।
यज्ञेन पापैर्बहुभिर्विमुक्तः, प्राप्नोति लोकान् परमस्य विष्णोः ॥

'यज्ञ से समस्त लोक निर्मलता एवं सुन्दरता को प्राप्त करता है। यज्ञ से देवगण अमरत्व को प्राप्त करते हैं। यज्ञ द्वारा अनेक तरह के पापों का प्रक्षालन कर प्राणी भगवान् विष्णु के परम वैष्णव-धाम की प्राप्ति करता है।'

और भी—

नास्त्ययज्ञस्य लोको वै नायज्ञो विन्दते शुभम् ।
अयज्ञो न च पूतात्मा नश्यति च्छिन्नपर्णवत् ॥

'यज्ञ नहीं करनेवाले पुरुष पारलौकिक सुखों से वञ्चित रहते हैं तथा वे ऐहिक कल्याणों की प्राप्ति भी नहीं कर सकते और ऐसे प्राणी आत्म-पवित्रता के अभाव से छिन्न-भिन्न पत्रों की तरह नष्ट हो जाते हैं।'

महाभारत में भी लिखा है—

सुशुद्धैर्यजमानस्य ऋत्विग्भिश्च यथाविधि ।
शुद्धद्रव्योपकरणैर्यष्टव्यमिति निश्चयः ॥
तथा कृतेषु यज्ञेषु देवानां तोषणं भवेत् ।
श्रेष्ठः स्याद्देवसंघेषु यज्वा यज्ञफलं लभेत् ॥
देवाः सन्तोषिता यज्ञैर्लोकान् संवधयन्त्युत ।
उभयोर्लोकयोर्देवि ! भूतिर्यज्ञैः प्रदृश्यते ॥

तस्माद्यज्ञाद्दिवं याति पूर्वजैः सह मोदते ।
नास्ति यज्ञसमं दानं नास्ति यज्ञसमो विधिः ।
सर्वधर्मसमुद्देशो देवि ! यज्ञे समाहितः ॥

'अच्छे योग्य ऋत्विजों द्वारा यथाविधि शुद्ध याज्ञिक सामग्री से यजमान को यज्ञ करना चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार से यज्ञों के सम्पन्न हो जाने पर देवगण सन्तुष्ट होते हैं उनके सन्तुष्ट होने पर यजमान देवसमूह में अच्छे सम्मान को प्राप्त होकर यज्ञ-फल की प्राप्ति करता है । यज्ञों से सन्तुष्ट होने पर देवगण लोकाभ्युदय की कामना करते हैं साथ ही यज्ञों द्वारा दोनों लोकों का कल्याण सम्पन्न होता है । यज्ञ से प्राणी के लिये विशेष फल यह होता है कि वह स्वर्गलोक का भागी बनता है और वहाँ पर अपने पूर्वजों के साथ आनन्द करता है। संसार में यज्ञ के समान कोई दान नहीं, यज्ञ के समान कोई विधि-विधान नहीं और सभी धर्मों या उद्देश्य यज्ञ से ही सिद्ध होता है यह बात सुस्पष्ट है।'

इसी प्रकार यज्ञ के महत्त्व का विस्तृत वर्णन श्रुति, स्मृति, उपनिषद् तथा पुराणादि में पाया जाता है।

यज्ञ से उन्नति

वेदों में तथा धर्मशास्त्रादि ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के श्रेष्ठ-कर्म बतलाये हैं, किन्तु उन समस्त श्रेष्ठ-कर्मों की अपेक्षा यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है— **'यज्ञो वै श्रेष्ठतरं कर्म'** (श० ब्रा० १।७।१।५)।

जिस प्रकार यज्ञ अत्यन्त प्राचीन कर्म है उसी प्रकार मनुष्य-जाति अत्यन्त प्राचीन है। मनुष्य-जाति के जीवन का प्रारम्भ यहाँ से ही होता है और उन्नति भी इसी से है। यज्ञ की उत्पत्ति मनुष्य के साथ हुई है और वह उसी के साथ सर्वदा रहता है। इस विषय का उल्लेख भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में इस प्रकार वर्णित है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (१०,११)

प्रजापति ब्रह्मा ने प्रारम्भ में यज्ञके साथ प्रजाको उत्पन्न करके उनसे कहा— 'इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी उन्नति हो और यह यज्ञ तुम्हारे लिये मनोभिलषित फल को देने वाला हो। तुम इस यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करते हुए परस्पर दोनों अत्यन्त श्रेष्ठ श्रेय पद को अर्थात् कल्याण प्राप्त करो।'

यज्ञ का तत्त्व बड़ा ही दुरूह है, इसके वास्तविक तत्त्व को जान लेना कोई खेल-तमाशा नहीं है। बड़े-बड़े महर्षि भी इसके यथार्थ तत्त्व को बड़ी कठिनता से जान सके थे, फिर हम कलिकाल—कलुषित प्राणी कैसे जान सकते हैं ? यज्ञ-तत्त्व को जानने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा रखने से सत्यता की प्राप्ति होती है—**'श्रद्धया सत्यमाप्यते'** (शु० य० १९।३०)।

श्रद्धा और सत्यता के सम्मेलन होते ही विश्वास की वृद्धि होती है। विश्वास के होते ही यज्ञादि तत्त्व जान लेने में किसी प्रकार की कठिनता नहीं रह जाती। अतः सिद्ध हुआ कि यज्ञादि दुरूह तत्त्व को जानने के लिए श्रद्धा एवं विश्वास की आवश्यकता है।

यज्ञ के विषय में लिखा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥
(शु० य० ३१।१६)

'देवता लोग यज्ञ से यज्ञ-पुरुष भगवान् की पूजा करते हैं। वे धर्म उत्कृष्ट हैं। वे महत्त्व प्राप्त करते हुए सुख-पूर्ण लोक को प्राप्त करते हुए सुख-पूर्ण लोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ पूर्व साधन-सम्पन्न देवसमूह निवास करते हैं।'

देखिये, यज्ञ पुरुष भगवान् यज्ञ के विषय में क्या आदेश कर रहे हैं—

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।
(ऋग्वेद, १०।८६।१)

'हे गृहस्थ स्त्री-पुरुषो ! तुम यज्ञ करने के लिये ही रचे गये हो, क्योंकि इस के वगैर जीवात्मा देवको नहीं जान सकता। जिस के जानने से तुम पराक्रमियोंमें स्वामी तथा परमेश्वर के आनन्द में आनन्दित रह सकते हो, वह जीवात्मा सम्पूर्ण जगत् से श्रेष्ठ है।'

यज्ञ करने से मनुष्यकृत दुरूह बन्धनों तक का नाश हो जाता है। इस विषय में गीता का निम्नलिखित प्रमाण देखिए—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ (४।२३)

'आसक्ति से रहित, राग-द्वेष से रहित, ज्ञान में स्थित और यज्ञ के लिये ही जो कर्म करते हैं, उनके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् उनकी कर्म-बाधा दूर हो जाती है।'

यज्ञ करने से कर्म-बाधाओं का नाश तो होता ही है साथ ही ऐहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है। कारण यह है कि यज्ञ में सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा का निवास रहता है। जैसा कि गीता के तृतीय अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक से स्पष्ट है—

'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।'

यज्ञ का देवताओं के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, अतः यज्ञ की उपासना आवश्यक है। यज्ञ-पुरुष भगवान् की उपासना करने से समस्त विश्व का कल्याण होता है, यह निश्चित है। अतः संसारी मायाजाल से मुक्त होने के लिये सनातन धर्मावलम्बियों का कर्तव्य है कि वे अवश्य यथाशक्ति यथाविधि यज्ञ करें।

* यज्ञ से सब प्रकार का लाभ

वर्त्तमान समय के सभी प्राणी अनेक आपत्तियों से व्याप्त हैं। उन से मुक्त होने के लिये शास्त्रों में वेद का स्वाध्याय लिखा है। वेद के स्वाध्याय से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। इस के लिये वेद का स्वाध्याय और

* यह लेख वृन्दावन के मासिकपत्र 'नाम-माहात्म्य' के तृतीय वर्ष के छठवें अङ्क में प्रकाशित हो चुका है।

वेदोक्त शुभ कर्म करना चाहिये। वैदिक कर्मों में 'यज्ञ' को श्रेष्ठ-कर्म कहा गया है। यज्ञ करने से आत्मा पवित्र होती है और इस से पवित्र धार्मिक कार्यों में सहायता मिलती है। यज्ञ से ही शुभ फलों की प्राप्ति और देवताओं की आत्मा सन्तुष्ट होती है। पश्चात् वे संसार में सब प्रकार का लाभ करते हैं। यज्ञ करने से मानसिक बल की, बुद्धि की, मानसिक एवं शारीरिक उन्नति की, दीर्घायु की, आरोग्यता की, धन-धान्य एवं पुत्र-पौत्रादि सब प्रकार की वृद्धि होती है। भगवान् ने यज्ञ-विधान के विषय में कहा है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यः यज्ञः कर्म समुद्भवः॥ [गीता ३।१४]

'समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है और वृष्टि यज्ञ से होती है और वह यज्ञ कर्म से होता है'।

मनुस्मृति में भी इसी विषय का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

'अग्नि में दी हुई आहुति सूर्यदेव को प्राप्त होती है। पश्चात् उस से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है।'

प्रत्येक प्राणी का धर्म है कि वह समस्त संसार का कल्याण करे। यह तभी सम्भव हो सकता है कि जब मनुष्य में निःस्वार्थ बुद्धि हो। निःस्वार्थ भाव की प्राप्ति होने पर मनुष्य में अलौकिक शक्ति की प्राप्ति होती है अलौकिक शक्ति प्राप्त होते ही वह मनुष्य देवाराधन में तत्पर हो जाता है और संसार के कल्याण के लिये वह आत्मसमर्पण कर बैठता है। इस प्रकार आत्म समर्पण-रूपी त्याग के प्रभाव से प्रेरित होकर वह यज्ञादि शुभ-कर्म की ओर प्रवृत्त होता है। पश्चात् उसके किये हुए यज्ञ प्राणिमात्र के समस्त अकल्याण दूर कर कल्याण करते हैं। इसी बात की पुष्टि अथर्ववेद में इस प्रकार है—

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत॥ (६।११४।१)

'हे देवताओ ! हम स्वयं दैवीशक्ति से युक्त होते हुए भी जो देवताओं का अनादर करते हैं उनसे हमें मुक्त करो। हे आदित्यो ! तुम सब उससे यज्ञ के सत्य द्वारा छुड़ाओ।'

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ (६।११४।२)

'हे आदित्यो ! हे याजको ! हे यज्ञप्रवर्तको ! यज्ञ की शिक्षा प्राप्त करते हुए भी यदि हम उसको यथाविधि न कर सकें तो यज्ञ के सत्य द्वारा हमें मुक्त करो।'

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ (६।११४।३)

'उत्तम ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करने पर भी जो दोष हम से होते हों, उनकी निवृत्ति के लिये हम घृत की आहुतियाँ देते हैं, उनसे यज्ञ के सत्य द्वारा हमें उत्तम यज्ञ-कर्ता बनाओ।'

हमें चाहिये धर्म में आस्था करें, विश्वास करें और उपयोग में भी लावें। यज्ञ का धर्म से बहुत गहरा सम्बन्ध है, अतः यज्ञादि धार्मिक कृत्य से सब प्रकार का लाभ होता है, यह निःसंदिग्ध और निश्चित है।

यज्ञ में कल्याण की प्रार्थना

यज्ञादि शुभ-कर्म में यज्ञ-प्रधान देवता की उपासना के बाद प्रति दिन समस्त वैदिक विद्वन्मण्डली एक साथ एक स्वर में जो महत्त्वपूर्ण प्रार्थना करती हैं वह प्रार्थना प्रधानतया संसार के कल्याण के ही सम्बन्ध में होती है। देखिये उस महत्त्व-पूर्ण प्रार्थना का सात्त्विक स्वरूप 'ऐतरेय ब्राह्मण' में इस प्रकार उल्लिखित है—

'स्वस्ति,साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यं आधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुषः आन्ताद् आ परार्धात्, पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एक राट् इति।'

'समस्त संसार का कल्याण हो । हमें साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, परमेष्ठी (ब्रह्मा) का राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय राज्य, पृथिवी से समुद्र-पर्यन्त का राज्य प्राप्त हो और वह पूर्णतया हमारा राज्य हो ।'

यज्ञ से कामना सिद्धि

वेद हिन्दू-धर्म का प्रधान धर्मग्रन्थ है । इस धर्म-ग्रन्थ में हिन्दू-धर्म के विषय में ऐसी कोई वात नहीं जो कि इसमें न हो । 'यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' यह वाक्य वेदों के लिये सर्वथा युक्त प्रतीत होता है ।

वेद में समस्त विषयों का खजाना भरा पड़ा है जो चाहे वह इसमें से सुन्दर सुन्दर रत्नों को ढूँढकर अपने चित्त की पिपासा की पूर्ति कर सकता है । इसी रत्नाकररूपी वेद का प्रधान अङ्ग 'यज्ञ' है । इस यज्ञ की महत्ता चारों वेदों में भरी पड़ी है । वेदों में यज्ञ को साक्षात् विष्णुस्वरूप वतलाते हुए स्पष्ट आदेश किया है कि यज्ञ की उपासना द्वारा जो चाहे वह अपनी कामना की सिद्धि कर सकता है । हमें भी शास्त्रों के अवलोकन से प्रत्यक्ष स्पष्ट मालूम होता है—प्राचीनकाल के ऋषि—महर्षियों ने, राजर्षियों ने, राजा-महाराजाओं ने यज्ञ की उपासना द्वारा ही अपने में अतुल शक्ति प्राप्त कर अपने-अपने इष्ट की सिद्धि प्राप्त की थी । * यज्ञ करने से देवताओं को 'देवत्व' पद की और शतक्रतु (सौ यज्ञ) करने के कारण इंन्द्र को 'इन्द्र' पद की प्राप्ति हुई थी । महाराजा जनक और महाराजा दशरथ की यज्ञ-कथा प्रसिद्ध ही है कि 'जनक ने अवर्षण को दूर करने के लिये तथा दशरथ ने अपुत्रत्व को दूर करने के लिये यज्ञ किया था ।' उस यज्ञ के प्रभाव से दोनों धार्मिक राजाओं की अभिलषित मनोकामना की सिद्धि हुई । राजा दिलीप की भी यज्ञ-कथा प्रसिद्ध ही है कि—उन के ९९ वें यज्ञों से ही सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने 'शतक्रतु' यज्ञ करने का समस्त फल दिलीप को दे दिया था । आज भी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक किये जाने वाले यज्ञ का वही महत्त्व विद्यमान है जो पुरातन काल में यज्ञ-फल प्राप्त होता था ।

यज्ञ-पद्धतियों में ऐसे अनेक प्रामाणिक विधि-विधान निहित हैं जिनके द्वारा आज भी प्राणी पुत्र-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, वृष्टि-प्राप्ति, मुकदमें में विजय-

* 'यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्रद्युम्नितमो मदः' (सामवेद, ३।१।३।२)

प्राप्ति, शारीरिक-मानसिक रोगादि से निवृत्ति आदि अनेक कामनाओं की सरलता से अवश्यमेव सफलता प्राप्त कर सकता हैं।

मत्स्यपुराण में स्पष्ट कहा है—

पुत्रार्थी लभते पुत्रान् धनार्थी लभते धनम्।
भार्यार्थी शोभनां भार्यां कुमारी च शुभं पतिम्॥
भ्रष्टराज्यस्तथा राज्यं श्रीकामः श्रियमाप्नुयात्।
यं यं प्रार्थयते कामं स वै भवति पुष्कलः॥
निष्कामः कुरुते यस्तु स परं ब्रह्म गच्छति।
(९३।११७-११९)

'पुत्र की इच्छा करनेवाला पुत्रकी, धनकी इच्छा करनेवाला धनकी, स्त्री की इच्छा करने वाला सुन्दर स्त्री की, वरार्थिनी कन्या सुन्दर पति की, राज्यच्युत राज्य की और लक्ष्मी की इच्छा रखनेवाला लक्ष्मी की प्राप्ति करता है। इतना ही नहीं, वल्कि जो जिस काम की इच्छा करता है वह उसे पूर्णरूप से प्राप्त करता है। जो निष्काम-भावसे यज्ञानुष्ठान करता है उसे परब्रह्म की प्राप्ति होती है।'

उपर्युक्त विषयों की साधनाओं की सिद्धि के लिये उपासकों को चाहिये कि वह प्रामाणिक वैदिक—वंशपरम्परागत प्रतिष्ठितकुलोत्पन्न वेद-वेदाङ्ग के पूर्ण ज्ञाता से ही यज्ञादि अनुष्ठान करावें अन्यथा फल-प्राप्ति की अपेक्षा हानि-लाभ ही हाथ में लगेगा।

यज्ञ की आवश्यकता

आज का संसारी युग धर्म की तथा धर्म-प्रेमियों की अवहेलना में तत्पर है। यही कारण है कि—हमारे पवित्र देश में भूकम्प, अकाल, वाढ़, रोग-शोक और महामारी आदि किसी न किसी प्रकार की विपत्ति प्रान्त—विशेष में सर्वदा अपनी स्थिति जमाये रहती है। ऐसी भीषण परिस्थिति में संसार के सर्वविध संरक्षण के लिये यदि कोई सीधा-साधा मार्ग है तो वह है धर्म का आश्रय। धर्म ही एक ऐसा अकाट्य साधन है जिसके सहारे मनुष्य अपना लोक-परलोक

दोनों सुधार सकता है। धर्म के अनेक अङ्ग हैं उनमें यज्ञ भी अपना प्रधान स्थान रखता है। यज्ञ की अपूर्व महिमा है, यज्ञ के द्वारा मनुष्य का ही नहीं, देवताओं का भी कल्याण हुआ है। इस विषय में महानारायणोपनिषद का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण देखिये—

'यज्ञेन हि देवा दिवङ्गता यज्ञेनासुरानपानुदन्तः, यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ॥'

'देवताओं ने यज्ञ से ही स्वर्ग को पाया और असुरों को परास्त किया। यज्ञ से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। यज्ञ में सब प्रकार के गुण हैं। इसलिये श्रेष्ठ-जन यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहते हैं।'

आज की सांसारिकी दुःख-राशि को दूर करने का साधन केवल यज्ञ ही है। यज्ञ-पुरुष भगवान् की कृपा के बगैर यज्ञ-स्वरूप संसार का कल्याण कथमपि नहीं हो सकता। अतः हमें चाहिये यज्ञ को अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य समझते हुए मनसा, कर्मणा, वाचा देश में, प्रान्त में, शहर में, कसबा और गाँवों में यज्ञ का प्रसार-प्रचार तथा यज्ञानुष्ठान करावें।

यज्ञ की उत्पत्ति

(एक हजार आठ यज्ञों का प्रादुर्भाव)

ऋषियों द्वारा प्रश्न हुआ है कि 'मुनिश्रेष्ठ ! जिस यज्ञ के महत्त्व से समस्त श्रुति-स्मृति, तथा पुराणादि धर्मग्रन्थ ओत-प्रोत हैं, उस यज्ञ की उत्पत्ति कहाँ से हुई इसको सविस्तार सुनाइये।' इस प्रश्न का उत्तर महर्षि मार्कण्डेय इस प्रकार कहते हैं—

स यज्ञोऽभूद्वराहस्य कायाच्छम्भुविदारितात्।
यथाहं कथये तद्वः शृण्वन्त्ववहिता द्विजाः ॥
विदारिते वराहस्य काये भर्गेण तत्क्षणात्।
ब्रह्म—विष्णु—शिवा देवाः सर्वैश्च प्रमथैः सह ॥
निर्युर्जलात् समुद्धृत्य तच्छरीरान्नभः प्रति।
तद् बिभिदुः शरीरं ते विष्णोश्चक्रेण खण्डशः ॥

तस्याङ्गसन्धयो यज्ञा जातास्ते वै पृथक् पृथक् ।
यस्मादङ्गाच्च ये जातास्तच्छृण्वन्तु महर्षयः ॥
भ्रूनासासन्धितो जातो ज्योतिष्टोमो महाध्वरः ।
हनुश्रवणसन्ध्योस्तु बर्हिष्टोमो व्यजायत ॥
चक्षुर्भ्रुवोः सन्धिना तु व्रात्यष्टोमो व्यजायत ।
जातः पौनर्भवष्टोमस्तस्य पौत्रोष्ठसन्धितः ॥
वृद्धिष्टोम–बृहत्स्तोमौ जिह्वामूलादजायताम् ।
अतिरात्रं स वैराजमधोजिह्वान्तरादभूत् ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
स्नानं तर्पणपर्यन्तं नित्ययज्ञाश्च सर्वशः ।
कण्ठसन्धेः समुत्पन्ना जिह्वातो विषयस्तथा ॥
वाजिमेध–महामेधौ नरमेधस्तथैव च ।
प्राणिहिंसाकरा येऽन्ये ते जाताः पादसन्धितः ॥
राजसूयोऽर्थकारी च वाजपेयस्तथैव च ।
पृष्ठसन्धौ समुत्पन्ना ग्रहयज्ञास्तथैव च ॥
प्रतिष्ठोत्सर्ग–यज्ञाश्च दान–श्राद्धादयस्तथा ।
हृत्सन्धितः समुत्पन्नाः सावित्री यज्ञ एव च ॥
सर्वे सांस्कारिका यज्ञाः प्रायश्चित्तकराश्च ये ।
ते मेढ्रसन्धितो जाता यज्ञास्तस्य महात्मनः ॥
रक्षःसत्रं सर्पसत्रं सर्वश्चैवाऽभिचारिकम् ।
गोमेधो वृक्षयागश्च खुरेभ्यो ह्यभवन्निमे ॥

मायेष्टिः परमेष्टिश्च गीष्पतिर्भोगसम्भवः ।
लाङ्गूलसन्धौ सञ्जाता अग्नीषोमस्तथैव च ॥
नैमित्तिकाश्च ये यज्ञाः सङ्क्रान्त्यादौ प्रकीर्तिताः ।
लाङ्गूलसन्धौ ते जातास्तथा द्वादशवार्षिकम् ॥
तीर्थप्रयागमाशौचं यज्ञः सङ्कर्षणस्तथा ।
अर्कमाथर्वणश्चैव नाडीसन्धेः समुद्गताः ॥
ऋचोत्कर्षः क्षेत्रयज्ञः पञ्चमार्गातियोजनः ।
लिङ्गसंस्थानहेरम्बयज्ञा जाताश्च जानुनि ॥
एवमष्टाधिकं जातं सहस्रं द्विजसत्तमाः ।
(कालिकापुराण ३२।९।२७)

'महादेव द्वारा बराह देव के शरीर विदीर्ण (फट जाने पर) हो ने पर उसके देहसे यज्ञों की उत्पत्ति हुई । शिव द्वारा बराह-देह के विदारित होने पर प्रमथों सहित ब्रह्मा, विष्णु, और महेश उस देहको जल से निकाल कर आकाश में ले गये । आकाश में ले जाकर उस बराह के देह को विष्णुभगवान् के सुदर्शन चक्र से टुकड़े टुकड़े कर दिये । उन अनेक शरीर के खण्डों से अनेक यज्ञ अर्थात् एक हजार आठ (१००८) यज्ञों की उत्पत्ति हुई ।

बराह देव के प्रत्येक अङ्ग से किस किस यज्ञ की उत्पत्ति हुई उसका उल्लेख किया जाता है—

दोनों भ्रू और नासिका-देश के सन्धिभाग से ज्योतिष्टोम यज्ञ, कपोल-देश के उच्चस्थान से लेकर कर्णमूल के मध्यस्थित सन्धि-भाग से वह्निष्टोम यज्ञ, चक्षु और दोनों भ्रू के सन्धि-भाग से व्रात्यस्तोम यज्ञ, मुख के अग्रभाग. और ओष्ठ के सन्धि-भाग से पौनर्भव स्तोमयज्ञ, जिह्वामूलीय सन्धिभाग से वृद्धस्तोम और बृहत्स्तोम यज्ञ और जिह्वा देश के अधोदेश से अतिरात्र तथा वैराज यज्ञ हुए । ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, अतिथियज्ञ, स्नान-तर्पणादि नित्य यज्ञ तथा उनकी विधियाँ कण्ठ-सन्धि तथा जिह्वा से हुईं । अश्वमेध, महामेध और

नरमेधादि प्राणिहिंसाकारक यज्ञ तथा हिंसाप्रवर्त्तक समस्त यज्ञ चरण-सन्धि से हुए । राजसूय, वाजपेय और ग्रहयज्ञ पृष्ठ-सन्धि से, प्रतिष्ठा, उत्सर्ग, दान, श्रद्धा तथा सावित्री आदि यज्ञ हृदय-सन्धि से, एवं उपनयन-संस्कारादि यज्ञ और प्रायश्चित्तादि यज्ञ मेढ्रसन्धि से हुए । राक्षसयज्ञ, सर्पयज्ञ, सभी तरह के अभिचारक यज्ञ, गोमेध, वृक्षयज्ञ आदि खुर से हुए । मायेष्टि,परमेष्टि, गीष्पति, भोगज और अग्नीषोम यज्ञ लाङ्गूल से हुए । संक्रान्ति आदि में होने वाले नैमित्तिक यज्ञ और द्वादश-वार्षिक यज्ञ लाङ्गूल-सन्धि से हुए । तीर्थप्रयाग, मास, आशौच, सङ्कर्षण, आर्क और आथर्वण यज्ञ नाडी की सन्धि से हुए । ऋच्चोत्कर्ष, क्षेत्रयज्ञ, पञ्चमार्ग, लिङ्गसंस्थान और हेरम्ब-यज्ञ वराह के जानुदेश से उत्पन्न हुए ।'

यज्ञिय देश

जिस प्रकार शास्त्रों में यज्ञ के विषय में अनेक विधि-विधान प्राप्त होते हैं उसी प्रकार शास्त्रज्ञों ने यज्ञिय देश के लिये भी विशेष विचार किया है । यज्ञ करने से प्रथम यज्ञ के लिये उत्तम देश का निर्णय करना चाहिये । भगवान् मनु महाराज ने बहुत विचार-परामर्श के अनन्तर श्रेष्ठ यज्ञिय-देश का जो निर्णय किया है वह उनके शब्दों में इस प्रकार है—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥
(२।२३)

*'जिस देश में कृष्णसार (काला मृग) स्वभाव से ही स्वच्छन्दरूप में विचरण करता है वह देश यज्ञिय है अर्थात् पुण्यदेश है । जिस भूमि में ऐसी बात न हो उसे 'म्लेच्छ-देश' कहते हैं ।'

और भी स्मृति में कहा है—

चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन् देशे न विद्यते ।
म्लेच्छदेशः स विज्ञेयः.................॥

* 'यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत'
(या० स्मृ० आचाराध्याय, २)

'जिस देश में वर्णाश्रम-धर्म का परिपालन न हो, जहाँ ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों की व्यवस्था का पूर्ण अभाव हो उसको 'म्लेच्छ-देश' कहते हैं ।'

यज्ञ करने के अधिकारी

'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यो,वर्षासु वैश्यः ।'.
(श० ब्रा० २।१।३।५)

'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम् ।'
(आप० धर्म० १।१।१।१९)

उपर्युक्त श्रुतियों के द्वारा, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों को ही आधान तथा उपनयन का अधिकार प्राप्त होता है । अतः उपनीत ही 'वेद स्वाध्याय' का अधिकारी होता है और अधीत वेद-पुरुष ही यागादि का भी अधिकारी होता है, फलतः यज्ञका अधिकार केवल द्विजातिमात्र को है ।

जिन्हें उपनयन तथा आधान का अधिकार प्राप्त नहीं है ऐसे त्रैवर्णिकेतर (शूद्रादि) स्पष्ट ही यागादि कर्मों के अनधिकारी सिद्ध हो जाते हैं । इसी सिद्धान्त की पुष्टि इस कातीयवचन से भी होती है—

'ब्राह्मण–राजन्य–वैश्यानाꣳ श्रुतेः' (का० श्रौ० १।१।६)

यज्ञ–परिभाषा सूत्रकार भी अपने निम्नलिखित सूत्र द्वारा इसी बात का पूर्ण समर्थन करते हैं—

'स त्रयाणां वर्णानां ब्राह्मण–राजन्ययोर्वैश्यस्य च'

आचार्य

वैदिक-वंशपरम्परागत प्रतिष्ठितकुलोत्पन्न वेद-वेदाङ्ग का ज्ञाता हो तथा ऋत्विजों के कर्म-कलाप में पूर्ण जानकारी रक्खे एवं ब्रह्मा के बतलाये हुए प्रायश्चित्तादि के युक्तायुक्त की योग्यता जिसमें हो उसे 'आचार्य' कहते हैं ।

मत्स्यपुराण में आचार्य का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

सर्वावयवसम्पूर्णो वेदमन्त्रविशारदः ।
पुराणवेत्ता तत्त्वज्ञो लोभ-मोहविवर्जितः ॥

कृष्णसारचरे देशे उत्पन्नश्च शुभाकृतिः ।
शौचाचाररतो नित्यं पाखण्डकुलनिस्पृहः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च ब्रह्मोपेन्द्रहरप्रियः ।
ऊहापोहार्थतत्त्वज्ञो वास्तुशास्त्रपरायणः ॥
आचार्यश्च भवेन्नित्यं सर्वदोषविवर्जितः ।

'सभी अवयवों से युक्त, वेद-मन्त्रों का ज्ञाता, सकल पुराणों का ज्ञाता, तत्त्व का ज्ञाता, लोभ-मोह से रहित, कृष्णसारमृग के विचरण करने योग्य देश में उत्पन्न, सुन्दर आकृति वाला, शौचाचार सम्पन्न, पाखण्ड—समूहों से निरपेक्ष, शत्रु और मित्र में समान व्यवहार रखने वाला अर्थात् किसी से भी न मित्रता और न शत्रुता करने वाला, ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों का समान स्नेह-भाजन, तर्क-वितर्क पूर्वक तत्त्वज्ञान सम्पादन करने में कुशल, वास्तु-शास्त्र का पूण परिज्ञाता और सर्वदोषों से नित्य ही रहित जो हो उसे योग्य 'आचार्य' कहते हैं ।'

शारदा तिलक में भी लिखा है—

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः ।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥
परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः ।
अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः ॥
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः ।
इत्यादिगुणसम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः ॥

निरुक्त (१।२।२) में भी आचार्य का लक्षण यों किया है—

'आचार्यः कस्मात् ? आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा ।'

ब्रह्मा

यज्ञादि कर्म में ऋत्विक् और यजमान के समस्त कार्यों का जो सावधानी से निरीक्षण तथा प्रायश्चित्तादि का उपदेश करने की योग्यता रक्खे उसे 'ब्रह्मा' कहते हैं।

ऋत्विक्

यज्ञादि कार्यों के सुसम्पादनार्थ सर्वप्रथम ऋत्विजों (ब्राह्मणों) की आवश्यकता पड़ती है। ऋत्विजों के बगैर यज्ञादि कर्म निष्पन्न नहीं हो सकते। अतः यह निश्चित हैं कि ऋत्विजों पर ही समस्त यज्ञ-कर्म की प्रतिष्ठा निर्भर है—

'ऋत्विजि हि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठितः' (ऐ० ब्रा० ९।८)

जो दक्षिणा लेकर श्रौत-स्मार्त्त-कर्मों को करता है उसे* 'ऋत्विक्' कहते हैं। भगवान् मनु ने अपनी स्मृति में ऋत्विक् का लक्षण यों किया है—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ (२।१४३)

'जो यजमान की प्रेरणानुसार अग्न्याधान, पाकयज्ञ तथा अग्निष्टोमादि यज्ञों को आचार्यत्वेन वृत होकर करता है वह यजमान का ऋत्विक् कहा जाता है।'

याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय के ब्रह्मचर्य-प्रकरण के पैंतीसवें श्लोक की मिताक्षरा में उसके निर्माणकर्ता श्री विज्ञानेश्वर महाशय ने ऋत्विक् का लक्षण इस प्रकार किया है—

'यः पाकयज्ञादिकं वृतः करोति स ऋत्विक्।'

'जो वृत होकर पाकयज्ञादि करता है उसे ऋत्विक् कहते हैं।'

'ऋत्विक्, शब्दका अर्थ भगवान् यास्काचार्य अपने निरुक्त में इस प्रकार करते हैं—

'ऋत्विक् कस्मात्? ईरणः। 'ऋग्यष्टा भवति'
इति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा।' (३।४।२)

'ऋत्विक् क्यों है? वह स्तुति-वाक्यों को कहता है। ऋचाओं द्वारा यज्ञ

* यो दक्षिणादिना परिक्रीतः श्रौत-स्मार्त्तादीनि कर्माणि करोति स ऋत्विक्।
(पा० गृ० 'विवृति' टीका १।३।१)

कराता है इसी से ऋत्विक् है—ऐसा आचार्य शाकपूणिका मत है अथवा ऋतु में यजन करता है ।'

होता

'यज्ञियदेवानां स्तुतिपूर्वकमाह्वाता होता ।'

'स्तुतिपूर्वक यज्ञिय देवताओं का आह्वान करनेवाला 'होता' कहलाता है ।'

यज्ञादि में ऋत्विजों के नियम

क्षमासत्यं दयादानं गुरुदेवादिपूजनम् ।
अनालस्यं सौमनस्यं सन्तोषः सत्यभाषणम् ॥
मन्त्राधिष्ठातृदेवानां ध्यानं धारणमर्थतः ।
होमकाले च मौनित्वं परस्परमनिन्दनम् ॥
अक्रोधः सर्वथा शुद्धिरिन्द्रियाणाञ्च निग्रहः ।
प्रिया वाणी प्रसन्नत्वं तत्तन्मन्त्रार्थचिन्तनम् ॥
निरर्थकं न संलापो नाङ्गानां चालनं मुधा ।
पालयेद् यज्ञभाग् विद्वान् द्रढिम्ना नियमानिमान् ॥
न तैलमर्दनं कार्यं न क्षौरं नातिभोजनम् ।
न यज्ञमण्डपे हस्त-पाद-प्रक्षालनं क्वचित् ॥
कृताह्निकविधिर्विप्र आचार्यं प्रणिपत्य वै ।
शुद्धेन मनसा नित्यं यज्ञकर्मपरो भवेत् ॥
आचार्य-कथने स्थेयान्न प्रतिग्रहमाचरेत् ।
सदा साधुमनाः कुर्यात् संस्थितिं*स्वस्तिकासने ॥

---

* जान्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥
(वीरमित्रोदय, लक्षणप्रकाश)

* ताम्बूलं न स्पृशेज्जातु व्रतभङ्गो भवेत्ततः ।
दाक्षिण्यवान् परं पुण्यं हविष्याशनमाचरेत् ॥
नान्यं प्रतिनिधिं कुर्यान्न निःस्वाहं समुच्चरेत् ।
दूरतः सन्त्यजेत् सर्वं मादकद्रव्यसेवनम् ॥
जृम्भायामथ छिक्कायां जातायां जलमास्पृशेत् ।
‡ मृगीमुद्रामुपाश्रित्य यथार्हं हुतमाचरेत् ॥
वर्त्तमानेऽथ हवने लघुशङ्कादिकं त्यजेत् ।
कृतेऽपि तत्क्षणं वस्त्रमन्यद् धृत्वाऽऽसनं भजेत् ।
आत्मनो यजमानस्य च यागे शुभमिच्छता ।
बुधेन नियमा एते पालनीयाः प्रयत्नतः ॥

'क्षमा, सत्य, दया, दान, गुरु और देवताओं का आराधन, आलस्य-हीनता, प्रसन्न मन से रहना, सन्तोष, सत्य बोलना, मन्त्राधिष्ठातृ देवों का ध्यान तथा अर्थानुसन्धानपूर्वक उनका धारण करना, होम के समय मौन, परस्पर में निन्दा का त्याग, क्रोध से रहित, सर्वथा आत्म-शुद्धि, इन्द्रियों का निग्रह, सुन्दर वाणी, प्रसन्नता, तत्तत् मन्त्रों के अर्थों का चिन्तन, अव्यर्थ भाषण, अव्यर्थ हस्त-पादादि अङ्गों का हिलाना आदि नियमों का विद्वान् ऋत्विज दृढ़ता पूर्वक पालन करे ।

विशेष कर तेल लगाना, क्षौर कराना, अधिक भोजन करना, यज्ञ मण्डप के अन्दर हाथ, पैर धोना इत्यादि अवश्य निषेध्य है ।

उपर्युक्त नियमों का पालन करता हुआ विद्वान् ब्राह्मण शुद्ध चित्त से आह्निक कृत्यों को पूर्ण कर और आचार्य को प्रणाम करके यज्ञ-कार्यों में संलग्न

* असकृज्जलपानाच्च सकृत्ताम्बूलभक्षणात् ।
व्रतं सर्वं विनश्येत दिवास्वापाच्च मैथुनात् ॥

‡ मीलितानामिकाङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुलीयोंजयेत् ।
शेषाङ्गुली उच्छ्रितेति मृगीमुद्रेयमीरिता ॥ (कर्मकाण्डप्रदीप)

हो। साथ ही आचार्य की आज्ञा मानता हुआ अन्य किसी प्रकार का दान आदि न लेवे। सर्वदा प्रसन्न चित्त होकर स्वस्तिकासन होकर बैठे। कभी भी तांबूल (पान) का स्पर्श न करे क्योंकि इससे व्रत-भङ्ग हो जाता है। अतः सुचतुर ऋत्विक् का कर्त्तव्य है कि वह अत्यन्त पवित्र हविष्यान्न का ही आहार करे। यज्ञ-कार्य में अपनी जगह दूसरा प्रतिनिधि न दे, विना स्वाहाकार के मन्त्रों का उच्चारण न करे, नशे की प्रत्येक वस्तु का दूर से ही त्याग कर दे। जंभाई तथा छींक आ जाने पर जल से मार्जन करे, पुनः मृगीमुद्रा का आश्रयण कर उचित रूप से हवन करे। हवन के बीच में लघुशङ्कादि करने के लिये न उठे, यदि आवश्यकता ही पड़ जाय तो लघुशङ्कादि करके तत्काल दूसरा वस्त्र धारण कर अपने आसन पर बैठे। इस प्रकार अपना और यजमान का कल्याण चाहता हुआ विद्वान् ऋत्विक् उपर्युक्त नियमों का भलीभाँति पालन करे।'

यज्ञादि में ऋत्विजों का पूजन आवश्यक है

यज्ञादि अनुष्ठान को साङ्गोपाङ्ग सविधि समाप्त करने का श्रेय ऋत्विजों को ही होता है। ऋत्विज ही यज्ञ के आधार हैं अतः यज्ञ-कर्म में इनका पूजन आवश्यक है इस बात को शास्त्रकार भी घोषित करते हैं—

सम्पूज्य *मधुपर्केण ऋत्विजः कर्म आरभेत्।
अपूज्य कारयन्कर्म किल्विषेणैव युज्यते॥

* दधि-मधु-घृतमपिहितं कांस्ये कांस्येन एकस्मिन् कांस्यभाजने कृतं दधि, मधु, घृतम्, अपरेण कांस्यभाजनेऽऽच्छादितं मधुपर्कशब्देनोच्यते।
(पार० गृ० सू०, 'विवृति' टीका, १।३।५)

तथा—"आज्यमेकपलं ग्राह्यं दध्नस्त्रिपलमेव च।
मधुन पलमेकं तु द्विपलं मधुकीर्तितम्॥"
"सर्पिश्च पलमेकं तु द्विपलं मधु कीर्तितम्।
पलमेकं दधि प्रोक्तं मधुपर्कविधौ बुधैः॥" इति स्मृत्यन्तरे।
"संशोधितं दधि मधु कांस्यपात्रे स्थितं घृतम्।
कांस्येनान्येन सञ्छन्नं मधुपर्कं इतीर्यते॥" इति च स्मृत्यन्तरे।

'ऋत्विजों का मधुपर्क से पूजन कर के ही यज्ञादि कर्म को प्रारम्भ करना चाहिये। जो लोग ऋत्विजों के पूजन किये वगैर कर्म में प्रवृत्त होते हैं वे पाप के भागी होते हैं।'

यज्ञादि में सर्वप्रथम † वरण किसका हो?

किसी भी जिम्मेदारीपूर्ण कार्य के सुव्यवस्थित सञ्चालन के लिये एक सुयोग्य नेता की आवश्यकता पड़ती है। अन्यथा उस कार्य में अनेक प्रकार की विघ्न बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। विशेषतः यज्ञादि शुभ-कार्यों में तो अवश्य ही सुयोग्य सर्वशास्त्रवेत्ता सञ्चालक की क्षण-क्षण पर आवश्यकता पड़ती रहती है। ऐसी स्थिति में पूज्य ऋषि—महर्षियों ने यज्ञादि कर्म के लिये 'आचार्य' को ही नेता (सर्वाध्यक्ष) स्वीकार किया है। अतः यज्ञादि में * आचार्य का ही सर्वप्रथम वरण तथा पूजन युक्तियुक्त सङ्गत प्रतीत होता है। यही शास्त्राज्ञा भी है—

आचार्यं प्रथमं वृत्त्वा ब्रह्माणं वृणुयात्ततः।
गणेशं ऋत्विजादींश्च पूजयेत्तु विधानतः॥
(रुद्रयामल)

'आचार्य का वरण सर्वप्रथम करके पश्चात् ब्रह्मा का वरण करे अनन्तर गणेश और ऋत्विजादि का विधिपूर्वक वरण और पूजन करे।'

हेमाद्रिकार का मत है—सदस्य का वरण सर्वप्रथम होना चाहिए। परन्तु यह क्रम आजकाल प्रचलित नहीं है।

यज्ञादि में ब्राह्मण ही ऋत्विक् हो सकता है

'तद्धं नाऽब्राह्मणः पिबेत्' (श० ब्रा० २।३।१।३९) इस शातपथ सिद्धान्त से अग्निहोत्र के अवशिष्ट हवि के पान का अधिकार केवल ब्राह्मण

---

† वरणं नाम करिष्यमाणकर्मस्वरूपश्रावणपूर्वकं स्वयमप्रवृत्तानामाचार्यादिकर्मसु कर्तृत्वेनाऽभ्यर्थनम्।

* हमारे स्वर्गीय पूज्य पितामह **महामहोपाध्याय** पं० श्री **प्रभुदत्त** जी शास्त्री तथा पूज्य पितृचरण **महामहोपाध्याय** पं० श्री **विद्याधर** जी शास्त्री को भी **सर्वप्रथम आचार्य** का ही वरण मान्य था।

को ही प्राप्त है। अतः हवि-पानकर्ता ब्राह्मण ही ऋत्विक्—कर्म कर सकता है। इसी सिद्धान्तकी पुष्टि श्रौतसूत्रकार-महर्षि कात्यायन ने भी की है—

'ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्षप्रतिषेधादितरयोः।' (१।२।८)

यज्ञपरिभाषासूत्रकारने भी 'ब्राह्मणानामार्त्विज्यम्' (२४) इस सूत्र द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त का ही पूर्णतः समर्थन किया है।

इन प्रमाणों से ब्राह्मण को ही आर्त्विज्य का अधिकार है क्षत्रियादि को नहीं।

यज्ञादि में * कुशकण्डिका आवश्यक है

'एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः' (पारस्करगृह्यसूत्र, १।१।२७) इस सूत्र से कुशकण्डिका विधि (अग्निमुख) गार्ह्य, स्मार्त्त, तान्त्रिक और लौकिक हवनकर्म में सर्वत्र आवश्यक है।

'उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरणम्' (पा० गृ० १।९।१)

'अत्र समिदाधानम्' (पा० गृ० २।४।१)

'अनादिष्टानि ब्रह्मा जुहुयात' (का० श्रौ०)

इत्यादि सूत्रों द्वारा जहाँ पर विशेष विधि प्राप्त है वहाँ पर उपयमनकुशादान प्रभृति कर्मों का ही अनुष्ठान होता है न कि समस्त कुशकण्डिका का। इसी प्रकार पञ्चमहायज्ञ में स्वाहाकार से होम की प्राप्ति होने पर भी पुनः 'स्वाहाकारैर्जुहुयात्' इस सूत्र से कुशकण्डिका का निषेध सिद्ध हो जाता है। अतः सभी शान्तिक, पौष्टिक तथा प्रायश्चित्तादि कर्मों में कुशकण्डिका करनी ही चाहिये। श्रौतकर्मों में तो श्रौतसूत्रोक्त समन्त्रक कुशकण्डिका होती है। यहाँ पर विहित पञ्चभूसंस्कार श्रौत-कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

यज्ञादि में नूतन वस्तु का ही उपयोग श्रेष्ठ है

यज्ञादि अनुष्ठानों में उपयुक्त होने वाली समस्त सामग्री † नूतन होनी चाहिये। प्रायः बहुधा देखने में आता है कि यज्ञाधिकारी वर्ग कभी कभी

---

* इस विषय के विशेष परिज्ञान के लिये मेरी लिखित 'पारस्करगृह्यसूत्र' की 'विवृति' में कुशकण्डिका प्रकरण देखना चाहिये।

† 'नवीनो नूतनो नवः' इत्यमरः।

लोभ-वश अनुष्ठानों में प्राचीन वस्तुओं का व्यवहार करने लगते हैं । किन्तु शास्त्र की दृष्टि से प्राचीन वस्तुओं का व्यवहार सर्वथा त्याज्य कहा गया है। इस विषय में सिर्फ एक शिष्ट-वचन उद्धृत किया जाता है—

यज्ञे देवप्रतिष्ठादौ नूतनान्येव शक्तितः ।
वासो भाण्डादि द्रव्याणि सर्वाणि विनियोजयेत् ॥

'यज्ञ में तथा देव-प्रतिष्ठादि शुभ-कार्यों में अपनी शक्ति के अनुसार वस्त्र, वर्त्तन आदि सभी नवीन वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिये ।'

अन्यच्च—

विवाहे प्रेतकार्ये च मातापित्रोः क्षयेऽहनि ।
नवभाण्डानि कुर्वीत यज्ञकाले विशेषतः ॥ (यमः)

'विवाह में, प्रेतकार्य में तथा माता-पिता के मरण दिन में विशेष कर यज्ञ के समय नवीन भाण्डों (वर्त्तन) का ही व्यवहार करना चाहिये ।'

यज्ञादि में विघ्न करना पाप है

यज्ञादि शुभ-कर्म में यदि हो सके तो प्रत्येक प्राणी को किसी न किसी रूप में सहायता करनी चाहिये । यदि सहायता न हो सके तो मनसा, कर्मणा, वाचा यज्ञादि शुभ-कर्मों में विघ्न नहीं पहुँचाना चाहिये । शास्त्र-मर्मज्ञों ने यज्ञादि में बाधा पहुँचाने वाले के लिये बहुत बड़ा दोष लिखा है—

उपस्थिते विवाहे च यज्ञे दाने च वासव ! ।
मोहाच्चरति विघ्नं यः स मृतो जायते कृमिः ॥

(बृहस्पतिसंहिता, ७९)

'हे इन्द्र ! विवाह, यज्ञ तथा दान के उपस्थित होने पर जो व्यक्ति मोहादि वश विघ्न करता है वह मरने के बाद कृमि होता है ।'

विष्णुपुराण में भी लिखा है—

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
असिपत्रवनं घोरं कालसूत्रमवीचिकम् ॥

विनिन्दकानां वेदस्य यज्ञव्याघातकारिणाम् ।
स्थानमेतत् समाख्यातं स्वधर्मत्यागिनश्च ये ॥
(६।१।४१–४२)

'वेद की निन्दा करने वाले तथा यज्ञ में व्याघात पहुँचाने वाले तथा स्वधर्म के त्यागने वाले के लिये तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, तलवार का जङ्गल, एवं कालसूत्र नामक नारकीय स्थान बने हुए हैं जिन में चिरकाल तक उन्हें घोर कष्ट प्राप्त करना पड़ता है ।'

इस विषय का रोचक प्रामाणिक प्रमाण शतपथब्राह्मण में भी मिलता है । यथा—

'देवान् ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुररक्षसानि ररक्षुर्न यक्ष्यध्वमिति । तद्यदरक्षंस्तस्माद्रक्षांसि ।' (१।१।१)

'एक समय देवगण यज्ञ कर रहे थे, राक्षसों ने उनके यज्ञ-कर्म में अनेक प्रकार से विघ्न किया और कहा–'यज्ञ न करो' अतः यज्ञादि कार्य में विघ्न करने वालों की 'राक्षस' संज्ञा होती है ।'

यज्ञादि में त्याज्य ब्राह्मण

रुद्रकल्पद्रुम में त्याज्य ब्राह्मणों का विवरण इस प्रकार किया गया है—

काणः कुष्ठिर्जडः क्रोधी [1]पुनर्भूः श्यावदन्तकः ।
निन्दितः पतितः क्लीवः कुदेशी वेदवर्जितः ॥
हीनाङ्गोऽप्यधिकाङ्गो वा छिन्नाङ्गः कर्कशः शठः ।
मागधो वामनः कृष्णो द्विजो वर्ज्यो जपादिषु ॥

'काना, कोढ़ी, मूर्ख, क्रोधी, वर्णशङ्कर, काले दाँतों वाला, निन्दित, पतित, नपुंसक, खराब देश का रहने वाला, जिसने वेद न पढ़ा हो, जिसका शरीर किसी अङ्ग से हीन अथवा कोई अङ्ग अधिक हो गया हो, जिसका कोई अङ्ग कट गया हो, जो देखने में भयङ्कर मालूम हो, मगध देश का निवासी, बौना और जो अत्यन्त कृष्णवर्ण का हों ऐसे ब्राह्मण जपादि कार्यों में सर्वथा निषेध्य हैं ।'

१ अक्षतायां क्षतायां वोत्पन्नः पुनर्भूः ।

कर्मकाण्डप्रदीप में लिखा है—

'द्विर्नग्न[1]—शुक्ल[2]—विक्लिध[3]—श्याव[4]दन्त—विद्ध[5]प्रजनन—व्याधित[6]—व्यङ्ग[7]—
श्वित्रकुष्ठि[8]—कु[9]नखिवर्जम्।'

'जिसके शरीर का चमड़ा बिगड़ गया हो, अत्यन्त गोरा या सफेद कुष्ठवाला, लंबे दाँतवाला, स्वभाव से काले दाँत वाला,. मुसलमानों की कुर्बानी की तरह जिसके लिङ्ग का चर्म काट दिया गया हो, रोगी, हीनाङ्ग अथवा अधिकाङ्ग, गलित कुष्ठवाला और बुरे नाखून वाला, ऐसे ब्राह्मण यज्ञादि कर्मों में वर्ज्य हैं।'

महर्षि शातातप कहते हैं—

अब्राह्मणास्तु षट् प्रोक्ता इति शातातपोऽब्रवीत्।
आद्यस्तु राजभृत्यः स्याद् द्वितीयः क्रय-विक्रयी॥
तृतीयो [10]बहुयाजास्यश्चतुर्थोऽ[11]श्रौतयाजकः।

१ द्विर्नग्नः—दुश्चर्मा। तथा च कर्मकाण्डप्रदीपे—
यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम्। द्विर्नग्नः स तु विज्ञेयः......॥

२ शुक्लः—अतिगौरो मण्डलकुष्ठी वा।

३ विक्लिधः—दन्तुरः। तथा च वृद्धमनुः—
यस्य नैवाऽधरोष्ठाभ्यां छाद्यते दशनावलिः।
विक्लिधः स तु विज्ञेयो ब्राह्मणः पङ्क्तिदूषणः॥

४ श्यावदन्तः स्वभावात्कृष्णदन्तः।

५ विद्धप्रजननः-'छिन्नलिङ्गचर्मा' दाक्षिणात्ये इति प्रसिद्धः।

६ व्याधितः—व्याधियुक्तः।

७ व्यङ्गः—हीनाङ्गः, अधिकाङ्गः, विरुद्धाङ्गसंस्थितश्चेति।

८ श्वित्रकुष्ठी—श्वेतकुष्ठी कुष्ठगलिताङ्गः।

९ कुनखी—कुत्सितनखः।

१० यस्तु सत्यपि धने धनाधिक्यवाञ्छया याजनशीलः सोऽत्र बहुयाजी।

११ यः पुमान् श्रौतकर्मण्यधिकृतोऽनादरेण स्वयं श्रौतं नानुतिष्ठति, अन्यान् नानुष्ठापयति, किन्तु स्मार्तकर्मपरः सन्ननुतिष्ठत्यनुष्ठापयति च सोऽयमश्रौतयाजकः।

पञ्चमो [1]ग्रामयाजी च षष्ठोऽसन्ध्यो[2] द्विजो मतः ॥

'महर्षि शातातप ने छ प्रकार के ब्राह्मणोंको अब्राह्मण कहा है—राजा के यहाँ नौकरी करने वाला, दूकानदार, धन रहने पर भी लोभवश यज्ञ कराने वाला, जो श्रौतयागाधिकारी होते हुए भी न तो स्वयं श्रौतयाग करे और न दूसरे को करावे, किन्तु स्मार्त्त-कर्म में ही तत्पर रहे ऐसा अश्रौतयाजक, जो योग्यायोग्य का विचार न करते हुए सर्वत्र गाँव और नगरों में द्रव्य-लोभ से यज्ञ कराने वाला, और सन्ध्या न करने वाला, ऐसे ब्राह्मण यज्ञादि में अग्राह्य (ग्रहण के योग्य नहीं) हैं ।'

त्रिविक्रमपद्धति में भी लिखा है—

"व्यसनी, वामनः, खल्वाटः, कुब्जकः, कुनखी, शठः, चपलः, अधिकाङ्गः, हीनाङ्गः पापी, कुटिलः, व्याधितः, तार्किकः, वार्द्धिकः, काकस्वरः, बकवृत्तिकः, गुरुदेवद्विजातिनिन्दकः, वृषलीपतिः, साहसिकः, अशुचिः, पण्यरङ्गोपजीवी, नास्तिकः, क्लीवः, धर्मवृत्तिविवर्जितः, परदाररतः, निर्घृणी, दुर्हृदः, अतिकृष्णः, अतिगौरः, केकराक्षः, कातरः, जडः, पशुशास्त्ररतः, कुण्डः, गोलकः, स्वयंभूः, शवश्राद्धभुक्, लम्बोष्ठकः, भग्नवक्त्रः, शिशुः, अतिवृद्धः, बधिरः, कपिलाङ्गः, व्यङ्गः, गर्वितः, स्तब्धः, कलिप्रियः, परापवादरतः, पिशुनः, असंस्कृतः, दीनः, दुश्चर्मा, सालस्यः, अतिस्थूलः, अतिकृशः, विषग्रन्थोपजीवी, अभिशस्तः, निष्ठीवनशीलः, कुवृत्तिकः, कुष्ठी, काणः, गारुडी, म्लेच्छदेशवासी, मांसभक्षी, तन्त्रशास्त्रविद्वेषकः, पुराणनिन्दकः, प्रतिमानिन्दकः, सन्ध्योपासनरहितः, अनेककार्ययुक्तः, रोगी ।"

१ ग्रामे नगरे च योग्या अयोग्याश्च यावन्तः सन्ति धनाभिलाषेण तावतां सर्वेषां याजको ग्रामयाजी ।

२ यः प्रातः सूर्योदयात्प्राक् सन्ध्यां नोपास्ते, सायं चास्तमयात्प्राक् नोपास्ते सोऽयमब्राह्मणः ।

यज्ञादि में *त्याज्य वस्त्र

महाभारत में कहा है—

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः ।
मूषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद् विचक्षणः ॥

'फटे हुए, जले हुए, दूसरे के, चूहे ने जिसे काटा हो, पुराना हो, ऐसे कपड़ों से विद्वान् पुरुष कर्म न करें ।'

अन्यत्र भी कहा है—

न कुर्यात् सन्धितं वस्त्रं देवकर्मणि भूमिप ! ।
न दग्धं न च वै छिन्नं पारक्यं न तु धारयेत् ॥

'धार्मिक कार्यों में सिले हुए, जले हुए, फटे हुए तथा दूसरे का वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए ।'

महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं—

आर्द्रवासास्तु यः कुर्याज्जपहोमप्रतिग्रहान् ।
सर्वं तद्राक्षसं विद्यात् बहिर्जानु च यत्कृतम् ॥
यज्जले शुष्कवस्त्रेण स्थले चैवार्द्रवाससा ।
जपो होमस्तथा दानं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥

'जो मनुष्य गीले कपड़े से जप, होम, प्रतिग्रह आदि कर्म करे अथवा घुटने के बाहर हाथ निकाल कर करे, वह राक्षस कर्म करता है । क्योंकि जल में सूखे कपड़े से, स्थल में गीले कपड़े से किया हुआ जप, होम, दान आदि सभी कृत्य निष्फल होता है ।'

गृह्यसंग्रहकार कहते हैं—

कटिवेष्ट्यं तु यद्वस्त्रं पुरीषो येन वा कृतः ।
मूत्र-मैथुनकृद्वस्त्रं धर्मकार्ये विवर्जयेत् ॥

'कमर में बाँधने का वस्त्र अर्थात् लँगोटा, चद्दर, जिस को पहिन कर बाह

* यह नियम यजमान और ऋत्विक् दोनों के लिये लागू है ।

भूमि (पाखाने) में जाय, पेशाब करे, स्त्री प्रसङ्ग करे ऐसे वस्त्रों को धर्म कार्य में व्यवहार नहीं करना चाहिये।'

महर्षि व्याघ्रपाद कहते हैं—

काषायं कृष्णवस्त्रं वा मलिनं केशदूषितम्।
जीर्णं नीलं सन्धितं च पारक्यं मैथुने धृतम्॥
छिन्नाग्रमपवस्त्रं च कुत्सितं धर्मतो विदुः॥

'गेरुवा, काला, गन्दा, जिस में क्षौर समय के बाल लगे हों, पुराना, नीले रंगका, जिस में छिद्र हों, दूसरे का हो, जिस को धारणकर स्त्री प्रसङ्ग किया हो, जिस का किनारा या अंचल फट गया हो, ऐसे वस्त्रों को धर्मादि कार्यों के अयोग्य कहा है।'

भविष्यपुराण में लिखा है—

नीलीरक्तेन वस्त्रेण यत्कर्म कुरुते नरः।
स्नानं दानं तथा होमं स्वाध्यायं पितृतर्पणम्।
वृथा तस्य महायज्ञा नीलीरक्तस्य धारणात्॥

'नील से रंगे हुए वस्त्र से मनुष्य जो भी कार्य करे जैसे स्नान, दान, होम, स्वाध्याय, पितृ-तर्पण तथा महायज्ञ आदि सभी उस के नीलवस्त्र धारण के कारण व्यर्थ हो जाते हैं।'

गौतम ने भी कहा है—

नीलीरक्तं यदा वस्त्रं ब्राह्मणोऽङ्गेषु धारयेत्।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्धयति॥

'ब्राह्मण यदि नील से रंगे हुए वस्त्र को धारण करे तो वह एक रात और दिन का पूर्ण उपवास करके पञ्चगव्य द्वारा ही शुद्ध हो सकता है।'

और भी शिष्ट-वचन मिलता है—

नीलीरक्तं च यद्वस्त्रं दूरतः परिवर्जयेत्।
द्रव्यान्तरयुता नीली न दुष्यति कदाचन॥

केवलं पट्टसूत्रे च नीलीदोषो न विद्यते ।
स्त्रिया वस्त्रं सदा त्याज्यमन्यवस्त्रं विवर्जयेत् ॥

'नील से रंगे हुए वस्त्र का दूर से ही त्याग कर देवे' परन्तु दूसरे द्रव्य से युक्त नीलवस्त्र को त्याज्य नहीं समझना चाहिए । केवल रेशमी कपड़े पर ही नील का दोष नहीं होता है । स्त्री का वस्त्र तथा अन्य किसी व्यक्ति का भी वस्त्र शुभ-कार्यों में सर्वथा त्याज्य है ।'

आचारचिन्तामणि में कहा है—

'कम्बले पट्टवस्त्रे च नीलीरागो न दुष्यति ।'

'कम्बल में, रेशमी वस्त्र में तथा विस्तर में नील रंग का रहना निषिद्ध नहीं होता है ।'

महर्षि व्याघ्रपाद कहते हैं—

*नैकवस्त्रो द्विजः कुर्याद्भोजनं च सुरार्चनम् ।
तत्सर्वमसुरेन्द्राणां ब्रह्मा भागमकल्पयत् ॥

'ब्राह्मण को उचित है कि वह एक कपड़ा शरीर में धारण कर भोजन अथवा देवाराधन न करे । क्योंकि ब्रह्मा ने ऐसा करना असुरों के लिए ही आदेश किया है ।'

विष्णुपुराण में भी स्पष्ट कहा है—

होमे देवार्चनाद्यासु क्रियास्वाचमने तथा ।
नैकवस्त्रः प्रवर्त्तेत द्विजवाचनिके जपे ॥

'होम, देवाराधन, आचमन, जप तथा ब्राह्मण के प्रवचन आदि कार्यों में एक वस्त्र धारण करके कभी प्रवृत्त नहीं होना चाहिये । अर्थात् शुभकार्यों में उपवस्त्र के सहित प्रवृत्त होना चाहिये ।'

यज्ञादि में वरण सामग्री

यज्ञानुष्ठानादि में आचार्यादि ऋत्विजों को वरण में कौन कौन सामग्री देना

* सव्यादंसात्परिभ्रष्टकटिदेशधृताम्बरः ।
एकवस्त्रं तु तं विद्याद्दैवे पित्र्ये च वर्जयेत् ॥ (शातातपः)

चाहिये इस विषय का उल्लेख **परशुरामकारिका** में इस प्रकार है—

भाजनं भाजनाधारश्छत्रोपानत् कमण्डलु ।
आसनं वसनं मुद्रा कर्णभूषोपवीतकम् ॥
एतद्दशविधं देयं पदं वरणसिद्धये ।
पदाभावेऽथ ताम्बूलं दत्त्वा किञ्चित्प्रकल्पयेत् ॥
वरणाङ्गोपहाराणां पात्राङ्गुलियवाससाम् ।
सर्वेषां निष्क्रयद्रव्यमुपपन्नं यथर्त्विजे ॥

'लोटा तथा गिलास आदि, चौकी आदि, छाता, जूता (स्वदेशी जूता अथवा खड़ाऊँ) कमण्डलु, कुशासन अथवा ऊर्णासन, वस्त्र (धोती, दुपट्टा, अंगोछा आदि) द्रव्य, कानोंका भूषण और यज्ञोपवीत यह दश प्रकार का वरण (पद) ब्राह्मणों को देना चाहिये । पद के अभाव में ताम्बूल (पान) मात्र देकर ही वरण का सङ्कल्प करे । यदि समस्त वरण–सामग्री प्रस्तुत न हो तो उपस्थित ऋत्विजों को वरण का मूल्य दे देना चाहिये ।'

तथा—

वस्त्रयुग्मं †महावस्त्रं केयूरं कर्णभूषणम् ।
अङ्गुलीभूषणञ्चैव मणिबन्धस्य भूषणम् ॥
कण्ठाभरणयुक्तानि प्रारम्भे धर्मकर्मणः ।
पुरोहिताय दत्त्वाऽथ ऋत्विग्भ्यश्चापि दापयेत् ॥
(लिङ्गपुराण)

'दो वस्त्र (धोती, दुपट्टा) दुशाला अथवा रेशमी आदि उत्तम वस्त्र, केयूर, कान का आभूषण, अँगूठी, हाथ का कड़ा वगैरह, गले का हार या सिकड़ी, धर्म-कर्म के प्रारम्भ में पुरोहित को देकर ऋत्विजों को भी देवे ।'

यज्ञादि में ब्राह्मणभोजन संख्या

गर्भाधानादिसंस्कारे ब्राह्मणान् भोजयेद्दश ।
शतं विवाहसंस्कारे पञ्चाशन्मेखलाविधौ ॥

† 'दुशाला'पदाभिधेयं काश्मीरं वा, किञ्चिदौर्णं विशिष्टं वास इति तात्पर्यम् ।

आवसथ्ये त्रयस्त्रिंशच्छ्रौताऽऽधाने शतात्परम् ।
अष्टकं भोजयेद् भक्त्या तत्तत्संस्कारसिद्धये ॥
सहस्रं भोजयेत् सोमे ब्राह्मणानां शतं पशौ ।
चातुर्मास्येषु चत्वारि शतं पञ्च सुराग्रहे ॥
अयुतं वाजपेये च ह्यश्वमेधे चतुर्गुणम् ॥
(यज्ञपार्श्व)

'गर्भाधानादि संस्कार में कम से कम दश ब्राह्मणों को, विवाह में सौ ब्राह्मणों को, उपनयन में पचास ब्राह्मणों को, आवसथ्य में तेंतीस ब्राह्मणों को, श्रौताधान में सौ से भी अधिक और प्रत्येक संस्कारों की निर्विघ्न पूर्त्ति के लिये आठ–आठ ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये ।

सोमयाग में एक हजार ब्राह्मणों को, पशुयाग में सौ ब्राह्मणों को, चातुर्मास्य याग में चार सौ ब्राह्मणों को, देवाराधनादि विशेष कर्म में पाँच सौ ब्राह्मणों को, वाजपेय में दश हजार और अश्वमेध में चालीस हजार ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये ।'

यज्ञादि में प्रतिनिधि का विचार

नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों में ही प्रतिनिधि ग्राह्य हैं, काम्य में नहीं । कहा भी है–

'काम्ये प्रतिनिधिर्नास्ति नित्ये नैमित्तिके च सः ।'

यज्ञादि में वाद्य की आवश्यकता

समस्त शुभ-कर्मों में मङ्गल-सूचक बाजे का उपयोग करना शास्त्र-सम्मत है । प्रायः देखा भी जाता है कि विवाहादि संस्कारों में हमारी हिन्दू-जाति ही नहीं, बल्कि यवनादि जातियाँ भी—बाजे को माङ्गलिक जान कर इसका सदुपयोग करते हैं । ऐसी स्थिति में यज्ञादि कार्य तो बहुत बड़े माङ्गलिक कार्य हैं इनमें तो वाद्य का उपयोग अवश्यमेव होना चाहिये ।

हमारी समस्त यज्ञ-पद्धतियों में लिखा है कि-यजमान अपनी पत्नी, पुत्र-पौत्रादि तथा आचार्य एवं ऋत्विजों के सहित माङ्गलिक वैदिक मन्त्रों के उच्चारण, तथा दुन्दुभि (भेरी) आदि अनेक बाजों के साथ यज्ञ मण्डप में प्रवेशार्थ प्रस्थान करे ।

मत्स्यपुराण में—

'ततो मङ्गलशब्देन भेरीणां निःस्वनेन च।' (५८।२१)

तथा—

'नृत्यमङ्गलवाद्येन' (मत्स्यपुराण, २९२।३४)

इत्यादि प्रमाण वाद्य के सम्बन्ध में मिलते हैं। अतः सुस्पष्ट है कि यज्ञादि धार्मिक कार्यों में वाद्य का उपयोग परमावश्यक है।

यज्ञादि में आशौच प्राप्ति पर निर्णय

यज्ञ में मधुपर्क के बाद, व्रत और सत्र में सङ्कल्प के बाद, विवाह में नान्दीश्राद्ध के बाद, श्राद्ध में पाकारम्भ होने पर आशौच (जनन-मरणाशौच) की प्रवृत्ति तत्तत्कर्म के लिये नहीं होती है, किन्तु व्यवहार में अस्पृश्यत्व और कर्मान्तर में अनधिकार होता ही है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है—

ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम्।
सत्रिव्रतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा॥
दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे।
आपद्यपि हि कष्टायां सद्यः शौचं विधीयते॥

'ऋत्विज और दीक्षित, अन्नसत्रि, कृच्छ्रचान्द्रायण प्रभृति में तत्पर व्रती, ब्रह्मचारी, दानी, ब्रह्मज्ञानी, यज्ञिय कर्म करनेवाले दान में, विवाह में, यज्ञ में, संग्राम में, देश-विप्लव में और बहुत बड़ी आपत्ति आने पर सद्यः शौच से ही शुद्धि हो जाती है।'

निम्नलिखित अन्यान्य स्मृतिवाक्यों से भी उपर्युक्त सिद्धान्त की ही पुष्टि होती है—

नित्यमन्नप्रदस्यापि कृच्छ्रचान्द्रायणादिषु।
निर्वृत्ते कृच्छ्रहोमादौ ब्राह्मणादिषु भोजने॥
गृहीतनियमस्यापि न स्यादन्यस्य कस्यचित्।
निमन्त्रितेषु विप्रेषु प्रारब्धे श्राद्धकर्मणि॥

निमन्त्रितस्य विप्रस्य स्वाध्यावादिरतस्य च ।
देहे पितृसु तिष्ठत्सु नाऽऽशौचं विद्यते क्वचित् ॥

विष्णुस्मृति में कहा है—

'न देव–प्रतिष्ठोत्सर्गविवाहेषु न देशविभ्रमे नापद्यपि च कष्टाया-माशौचम् ।'

पैठीनसी ऋषि ने भी कहा है—

विवाह–दुर्ग–यज्ञेषु यात्रायां तीर्थकर्मणि ।
न तत्र सूतकं तद्वत् कर्म यज्ञादि कारयेत् ॥

'**कर्मकाण्डप्रदीप**' में भी यज्ञादि में आशौच प्राप्ति विषय में-'**दाने विवाहे कदने च यज्ञे**' इत्यादि आठ श्लोकों द्वारा विचार परामर्श किया गया है, किन्तु उन श्लोकों के निर्माण तथा अर्थ की पुनरुक्ति को देखते हुए निश्चित होता है कि यह श्लोक ऋषि–महर्षि प्रणीत नहीं हैं। अत एव इन श्लोकों में भाषा-भाव की न्यूनता के साथ साथ मूल श्लोकों में भी विचित्र वैचित्र्य दिखाई देता है। अतः हमने उन प्रमाणों को पाठकों के समक्ष रखना अधिक उचित नहीं समझा। विशेष जिज्ञासुओं को उक्त पुस्तक देखनी चाहिये।

यज्ञादि में गोदान लेने से प्रायश्चित्त नहीं होता है

यज्ञकर्मणि या धेनुर्व्रतधेनुस्तथैव च ।
मधुपर्के च या धेनुर्या धेनुः कर्मसिद्धये ॥
एतत्प्रतिग्रहे विप्र ! प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥

'यज्ञ कर्म में, व्रत में, मधुपर्क में तथा कर्म की निर्विघ्न पूर्ति के लिये दी जाने वाली गौ को लेने वाला ब्राह्मण प्रायश्चित्ती (दोषी) नहीं होता है।'

यज्ञादि में यजमान द्वारा ऋत्विजों को सामान्यतः कर्तव्य निर्देश

गन्धपुष्पैरलङ्कृत्य द्वारपालान् समन्ततः ।
पठध्वमिति तान् ब्रूयात् आचार्यमभिपूजयेत् ॥
बह्वृचौ पूर्वतः स्थाप्यौ दक्षिणेन यजुर्विदौ ।

सामगौ पश्चिमे तद्वत् उत्तरेण त्वथर्वणौ ॥
उदङ्मुखो दक्षिणतो यजमान उपाविशेत् ।
यजध्वमिति तान् ब्रूयात् हौत्रिकान् पुनरेव तु ॥
उत्कृष्टान् मन्त्रजापेन तिष्ठध्वमिति जापकान् ।

(मत्स्यपुराण, ५८।२७।३०)

'गन्ध और पुष्पादि से चारों दिशाओं में द्वारपालों को अलङ्कृत कर 'पढ़िये' ऐसा सङ्केत कर आचार्य का पूजन करे। पूर्व में बह्वृचों को, दक्षिण में यजुर्वेदियों को, पश्चिम में सामवेदियों को तथा उत्तर में अथर्ववेदियों को स्थापित कर उत्तरमुख यजमान दक्षिण की ओर बैठे। अनन्तर होता लोगों से कहे कि यजन करो, मन्त्र जपने वालों से कहे कि मन्त्र का जप निरन्तर करते रहो।'

यज्ञादि में *दक्षिणा आवश्यक है

दक्षिणा †यज्ञ का एक प्रधान अङ्ग है। दक्षिणा के बगैर यज्ञ का फल यज्ञ-कर्ता यजमान प्राप्त नहीं कर सकता। दक्षिणा में ही एक ऐसी अपूर्व करामात है जिसके द्वारा यजमान की सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इसीलिये दक्षिणा को 'सर्वफलप्रदा' कहा है—'**दक्षिणा च फलप्रदा।**'

दक्षिणा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि—यज्ञादि कर्म में यदि यजमान से प्रमादवश किसी प्रकार की त्रुटि रह जाती है तो उस त्रुटि का सर्वतोभावेन परिहार दक्षिणा देने से ही हो जाता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के गणपति खण्ड (७।२३) में महादेवजी पार्वती से कहते हैं—

'सर्वेषां कर्मणां देवि ! सारभूता च दक्षिणा।'

---

* यज्ञान्त में आचार्यादि ऋत्विजों को श्रद्धा-भक्ति से शास्त्रोक्त विधि के अनुरूप दिये जाने वाले द्रव्य को 'दक्षिणा' कहते हैं।

† देवानां द्रव्यहविषां ऋक्-साम-यजुषां तथा ।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते ॥ (मत्स्यपुराण)

इसी अभिप्राय की पुष्टि निरुक्तकार भी करते हैं कि—

'दक्षिणा दक्षतेः समर्धयति कर्मणः व्यृद्धं समर्धयतीति ।'

(१।३।७)

'अर्थात् यज्ञ-कर्म में प्रमादवश जो कुछ न्यूनता रह जाती है उस को दक्षिणा वृद्धि कर पूर्ण कर देती है।'

अतः कल्याणेच्छुक यजमान को चाहिये कि वह यज्ञान्त में प्रचुरमात्रा में ब्राह्मणों को दक्षिणा प्रदान करे। साम्बपुराण में तो यजमान के लिये आदेश भी किया गया है—

'दक्षिणाः सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता ।' (३४।२९)

दक्षिणा रहित यज्ञ का निषेध

जिस यज्ञ में आचार्यादि ऋत्विजों को यथेष्ट या किञ्चिन्मात्र भी दक्षिणा नहीं दी जाती उस यज्ञ को * 'तामस' कहते हैं। शास्त्रों में दक्षिणा-हीन तामस यज्ञ को अत्यन्त निकृष्ट बतलाया गया है। दक्षिणा-हीन यज्ञ के विषय में शास्त्रों में अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—

'अध्वरं दक्षिणाहीनं निष्फलं च निगद्यते ।'

'यज्ञश्च दक्षिणाहीनः सवितुर्न प्रशस्यते ।'

'हतयज्ञमदक्षिणम् ।'

'हतयज्ञो ह्यदक्षिणः ।'

भागवत की सुविख्यात वंशीधरी टीका (४।६।५०) में भी दक्षिणा-हीन यज्ञ के बारे में यों लिखा है—

'यागोऽमन्त्रोऽदक्षिणश्च न फलं दास्यति क्वचित् ।'

मत्स्यपुराण में दक्षिणारहित यज्ञ की निन्दा करते हुए यज्ञकर्ता के लिए स्पष्ट कहा गया है—

---

* विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ (गीता, १७।१३)

न कुर्याद्दक्षिणाहीनं वित्तशाठ्येन मानवः ।
अदद्ल्लोभतो मोहात् कुलक्षयमवाप्नुते ॥
अन्नदानं यथाशक्त्या कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता ।
अन्नहीनः कृतो यस्माद् दुर्भिक्षफलदो भवेत् ॥
अन्नहीनो दहेद्राष्टं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः ।
यष्टारं दक्षिणाहीनं नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥
(९३।१०९।१११)

'कृपणता के कारण दक्षिणाहीन यज्ञ न करे, मोह और लोभ से विना दक्षिणा का यज्ञ करनेवाला कुलक्षय को प्राप्त होता है। ऐश्वर्याभिलाषी पुरुष को यज्ञ में अन्नदान करना चाहिये क्योंकि अन्न से हीन यज्ञ दुर्भिक्षको उत्पन्न कर राष्ट्रका भी संहार करता है, मन्त्रहीन यज्ञ ऋत्विजोंका और दक्षिणाहीन यज्ञ यजमान का नाश करता है। इसलिये अविधि अनुष्ठित यज्ञ के सदृश दूसरा शत्रु भी और कोई नहीं है।'

ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी दक्षिणा रहित यज्ञ का निषेध किया गया है—

यत्कर्म दक्षिणाहीनं कुरुते मूढधीः शठः ।
स पापी पुण्यहोनश्च..............॥
(गणपति खण्ड २३।२७)

'जो मूर्ख मनुष्य दक्षिणाहीन कर्म करता है वह पापी और पुण्यहीन कहा जाता है।'

कर्ता कर्मणि पूर्णेऽपि तत्क्षणात् यदि दक्षिणाम् ।
न दद्यात् ब्राह्मणेभ्यश्च दैवेनाज्ञानतोऽथवा ॥
मुहूर्त्ते समतीते च द्विगुणा सा भवेद् ध्रुवम् ।
एकरात्रे व्यतीते तु भवेद्रसगुणा च सा ।
त्रिरात्रे वै दशगुणं सप्ताहे द्विगुणा ततः ॥
मासे लक्षगुणा प्रोक्ता ब्राह्मणानां च वर्द्धते ।

संवत्सरे व्यतीते तु सा त्रिकोटिगुणा भवेत् ॥
कर्म तद् यजमानानां सर्वं वै निष्फलं भवेत् ।
स च ब्रह्मस्वापहारी न कर्मार्होऽशुचिर्नरः ॥
दरिद्रो व्याधियुक्तश्च तेन पापेन पातकी ।
तद् गृहाद्याति लक्ष्मीश्च शापं दत्त्वा सुदारुणम् ॥
पितरो नैव गृह्णन्ति तद्दत्तं श्राद्धतर्पणम् ।
एवं सुराश्च तत्पूजां तद्दत्तं पावकाहुतिम् ॥
दाता ददाति नो दानं ग्रहीता तन्न याचते ।
उभौ तौ नरकं यातच्छिन्नरज्जुर्यथा घटः ॥
नार्पयेद् यजमानश्चेद् याचितारं च दक्षिणाम् ।
भवेद् ब्रह्मस्वापहारी कुम्भीपाकं व्रजेद् ध्रुवम् ॥
वर्षलक्षं वसेत्तत्र यमदूतेन ताडितः ।
ततो भवेत् स चण्डालो व्याधियुक्तो दरिद्रकः ॥
पातयेत् पुरुषान् सप्त पूर्वान् वै पूर्वजन्मनः ।

(ब्रह्म० वै०, प्रकृतिखण्ड, ४२।५४-६४)

'यज्ञादि कर्म के पूर्ण हो जाने पर भी दैववश अथवा अज्ञानवश ब्राह्मणों को दक्षिणा न देने से प्रतिक्षण वह दक्षिणा द्विगुणित हो जाती है। एक रात बीत जाने पर वह छगुनी, तीन रात बीत जाने पर दशगुनी, सात दिन बीतने पर चौगुसनी, एक मास बीतने पर लाखगुनी, एक वर्ष बीतने पर तीन करोड़ गुनी बढ़ जाती है। और साथ ही यजमान का किया हुआ सम्पूर्ण कर्म भी सर्वथा निष्फल हो जाता है। वह यजमान ब्रह्मांश चोर सत्कर्मों के अयोग्य, अपवित्र होकर उसी भयङ्कर पाप से दरिद्र और व्याधियुक्त हो जाता है। उसके घर से लक्ष्मी भी कठिन शाप देकर अन्यत्र चली जाती हैं। पितृगण भी उसके दिये हुए श्राद्ध-तर्पणादि को ग्रहण नहीं करते और देवगण उसकी पूजा तथा आहुति

स्वीकार नहीं करते। देनेवाला दक्षिणा न देवे और पानेवाला याचक उससे दक्षिणा का तगादा न करे, ऐसी स्थिति में जिस प्रकार रस्सी टूट जाने से भरा हुआ घड़ा जल में डूब जाता है उसी प्रकार दाता और ग्रहीता दोनों ही नरक को प्राप्त करते हैं। जो यजमान अपने वृत याचक के माँगने पर भी दक्षिणा नहीं देता है वह ब्रह्मांश चोर होकर निश्चय ही 'कुम्भीपाक' नामक नरक को जाता है। वहाँ जाकर एक लाख वर्ष तक यम दूतों की ताड़नाओं को सहकर रहता हुआ अन्त में व्याधि युक्त, दरिद्र, तथा चाण्डाल योनि में उत्पन्न होकर अपने पूर्व पुरुषों की सात पीढ़ियों को पतित कर देता है।'

इसी बात को ब्रह्मवैवर्तके गणपतिखण्ड में भी महादेव जी ने पार्वती से कहा है—

दैवं वा पैतृकं वापि नित्यं नैमित्तिकं प्रिये!।
यत्कर्म दक्षिणाहीनं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्॥
दाता च कर्मणा तेन कालसूत्रं व्रजेद् ध्रुवम्।
अथाऽन्ते दैन्यमाप्नोति शत्रुणा परिपीडितः॥
दक्षिणा विप्रमुद्दिश्य तत्कालं तु न दीयते।
तन्मुहूर्त्ते व्यतीते तु दक्षिणा द्विगुणा भवेत्॥
चतुर्गुणा दीनातीते पक्षे शतगुणा भवेत्।
मासे पञ्चशताप्नास्या षण्मासे तच्चतुर्गुणा॥
संवत्सरे व्यतीते तु कर्म तन्निष्फलं भवेत्।
दाता च नरकं याति यावद्वर्षसहस्रकम्॥
पुत्र—पौत्र—धनैश्वर्यं क्षयमाप्नोति पातकात्।
धर्मो नष्टो भवेत्तस्य धर्महीने च कर्मणि॥
(७–२४–२९)

कृष्णजन्मखण्ड में भी कहा गया है—

दक्षिणा विप्रमुद्दिश्य तत्काले तु न दीयते।

एकरात्रे व्यतीते तु तद्दानं द्विगुणं भवेत् ॥
मासे शतगुणं प्रोक्तं द्विमासे तु सहस्रकम् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स दाता नरकं व्रजेत् ॥
वर्षाणां च सहस्रं च मूत्रकुण्डे निपत्य च ।
ततश्चाण्डालतां याति व्याधियुक्तश्च पातकी ॥
दात्रा न दीयते दानं ग्रहीत्रा चेन्न गृह्यते ।
उभौ तौ नरकं प्राप्तौ वर्षाणां च सहस्रकम् ॥
यजमानश्च चाण्डालो ब्राह्मणस्तत्पुरोहितः ।
व्याधियुक्तावुभौ तौ च पापिनौ कर्मणः फलात् ॥
(ब्र० वै० ८७-७१-७५)

अल्प दक्षिणा वाले यज्ञ का निषेध

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धधानो जितेन्द्रियः ।
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते ह कथञ्चन ॥
इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्त्तिं प्रजाः पशून् ।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥
(मनुस्मृति, ११।३९।४०)

'श्रद्धावान् जितेन्द्रिय ब्राह्मण को चाहिये कि वह यज्ञ के अतिरिक्त अन्य पुण्य-कार्यों को करें किन्तु शास्त्रोक्त दक्षिणा से न्यून (कम) दक्षिणा से यज्ञों को कभी न करें। क्योंकि स्वल्प दक्षिणा द्वारा सम्पादित यज्ञ शरीरस्थ समस्त इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और पशु को नष्ट करता है, अतः अल्प द्रव्य से यज्ञ नहीं करना चाहिये।'

यज्ञादि में आचार्य दक्षिणा

यज्ञ-कर्म का 'अथ' से 'इति' पर्यन्त समस्त भार 'यज्ञाचार्य' पर ही निर्भर रहता है। शास्त्रों में यज्ञाचार्य को अत्यन्त पूज्य कहा है। यज्ञ-कर्म में सर्वत्र अन्य ऋत्विजों की अपेक्षा आचार्य की दक्षिणा द्विगुणित कही गई है—

'*आचार्ये द्विगुणं दद्यात्।' (मत्स्यपुराण, ५८।२१)

महर्षि कात्यायन ने भी कहा है—

'सर्वत्र द्विगुणां दद्यादाचार्याय तु दक्षिणाम्।'

'यज्ञ में अन्य ऋत्विजों की अपेक्षा यज्ञाचार्य को सर्वत्र द्विगुणित दक्षिणा देनी चाहिये।'

यज्ञीय धनकी प्रशंसा

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं निगद्यते॥

(मनुस्मृति ११।२०)

'विद्वानों ने यज्ञ करने वाले के धन को 'देव-धन' कहा है और जो यज्ञ करने वाले नहीं हैं उनके धन को 'राक्षस-धन' कहा है।'

यज्ञार्थ धन माँगकर उसे हजम करने का निषेध

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति।
स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः॥

(मनुस्मृति ११।२५)

'जो मनुष्य यज्ञ के निमित्त माँगे हुए समस्त धन को यज्ञ में नहीं लगाता है वह सौ वर्ष तक मुर्गा अथवा कौवे की योनि को प्राप्त करता है।'

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी लिखा है—

'यज्ञार्थं लब्धमददद् भासः काकोऽपि वा भवेत्।'

(आचाराध्याय, १२७)

'जो मनुष्य यज्ञार्थ माँगे हुए सम्पूर्ण धन को यज्ञ में नहीं लगाता है वह सौ वर्ष पर्यन्त मुर्गा या कौवे की योनि को अलङ्कृत करता है।'

यज्ञार्थ शूद्र की भिक्षा त्याज्य है

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित्।

* आर्षत्वादत्र सप्तमी। उचिता तु चतुर्थ्येव।

यजमानो हि भिक्षित्वा चाण्डालः प्रेत्य जायते ॥

(मनुस्मृति, ११।२४)

'ब्राह्मण को चाहिये वह यज्ञ के निमित्त शूद्र से कभी भी धन की भिक्षा न माँगे, क्योंकि शूद्र से माँगे हुए धन से जो ब्राह्मण यज्ञ करता है वह मरने पर चाण्डाल होता है।'

याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय के एक सौ सताइसवें श्लोक में भी उपर्युक्त बात की ही पुष्टि की गई है—

'चाण्डालो जायते यज्ञकरणाच्छूद्रभिक्षितात्।'

'यज्ञार्थ शूद्र-धन माँगने से मनुष्य मरने के बाद चाण्डाल होता है।'

भगवती श्रुति भी आदेश करती है—'न यज्ञार्थं शूद्रात् धनं भिक्षेत'।

शूद्र को यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण त्याज्य है

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः।
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥

(मनुस्मृति, ३।१७८)

'शूद्र को यज्ञ करानेवाला जितने ब्राह्मणों को स्पर्श करता है उतने ही ब्राह्मणों के दान का पूर्ण फल देनेवाले को नहीं होता है।'

शूद्र-याजक ब्राह्मण के द्रव्य ग्रहण करने का निषेध

वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभात् कृत्वा प्रतिग्रहम्।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥

(मनुस्मृति ३।१७९)

'वेदज्ञ ब्राह्मण भी यदि लोभवश शूद्र के यहाँ यज्ञ कराने वाले का दान ग्रहण करता है तो जिस प्रकार जल में मिट्टी का कच्चा पात्र शीघ्र नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वह भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।'

राजा को यज्ञ करने का आदेश

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः।

धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्यात् भोगान्धनानि च ॥

(मनुस्मृति, ७।७९)

'राजा को चाहिये वह सर्वदा प्रचुर दक्षिणा सहित अनेक यज्ञों को करें और ब्राह्मणों को धर्मार्थ अनेक भोग्य वस्तु तथा धन प्रदान करे।'

स्त्री को पृथक् यज्ञ करने का निषेध

नास्ति स्त्रीणां पृथक् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥

(मनुस्मृति, ५।१५५)

'स्त्रियों को पति के वगैर स्वतन्त्ररूपेण यज्ञ, व्रत तथा उपवास करने का अधिकार नहीं है। स्त्री तो केवल पति-सेवा-रूपी यज्ञ के प्रभाव से ही स्वर्ग में आदर प्राप्त करती है।'

यज्ञादि में अग्नि का स्वरूप जानकर ही हवन करना चाहिये

अविदित्वा तु यो ह्यग्निं होमयेदविचक्षणः ।
न हुतं न च संस्कारो न स कर्मफलं लभेत् ॥
ज्ञात्वा स्वरूपमाग्नेयं योऽग्नेराराधनं चरेत् ।
ऐहिकाऽऽमुष्मिकैः कार्ये सारथिस्तस्य पावकः ॥
आहूयैव तु होतव्यं यो यत्र विहितो भवेत् ॥

(शुभकर्मनिर्णय)

'जो मनुष्य अग्नि के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न कर हवन करता है उसका किया हुआ हवन सर्वथा निष्फल होता है न उसका उत्तम संस्कार होता है और न वह कर्मफल को ही प्राप्त करता है। जो अग्नि के स्वरूप को जानकर अग्नि की आराधना करता है उसके ऐहिक तथा पारलौकिक कार्यों में अग्नि सारथि का कार्य करता है। अतः जिस अग्नि का जहाँ विधान हो उस अग्नि का तत्तत्कार्यों में आह्वान करके ही हवनादि करना चाहिये।'

यज्ञादि कर्मविशेष में अग्नि के भिन्न भिन्न नाम

प्रत्येक धार्मिक कर्म-विशेष में अग्नि के स्वतन्त्र नाम हैं, अतः जिस कर्म में जिस अग्नि का निर्देश किया गया हो उसी अग्नि को लाकर सविधि स्थापन करके हवन करना चाहिये। विधानपारिजात में अग्नि के नाम इस प्रकार कहे गये हैं—

लौकिकः पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः ।
अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने प्रकीर्तितः ॥
पुंसवने चमसो नाम सीमन्ते मङ्गलाभिधः ।
प्रगल्भो जातसंस्कारे शोभनः शुभकर्मसु ॥
पार्थिवो नामकरणे प्राशनेऽन्नस्य वै शुचिः ।
सभ्यनामा तु चूडायां व्रतादेशे समुद्भवः ॥
गोदाने सूर्यनामा स्यात् विवाहे योजकः स्मृतः ।
वैश्वानरो विसर्गे स्यात् शान्तिके वरदः स्मृतः ॥
चतुर्थीकर्मणि शिखी धृतिरग्निस्तथा परे ।
आवसथ्यस्तथाऽऽधाने वैश्वदेवे तु पावकः ॥
ब्रह्माग्निर्गार्हपत्यः स्याद्दक्षिणाग्निस्तथेश्वरः ।
विष्णुराहवनीयः स्यादग्निहोत्रे त्रयोऽग्नयः ॥
प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकयज्ञेषु साहसः ।
देवानां हव्यवाहस्तु पितॄणां कव्यवाहनः ॥
लक्षहोमेऽभीष्टदः स्यात् कोटिहोमे महाशनः ।
एके घृतार्चिषं प्राहुरग्निध्यानपरायणाः ॥
रुद्रादौ (पूर्णाहुतौ) तु मृडो नाम पौष्टिके बलवर्द्धनः ।
मृतदाहे तु क्रव्यादः क्रोधाग्निश्चाभिचारिके ॥

वश्यार्थे वशकृत्प्रोक्तो वनदाहे तु पोषकः ।
ज्ञात्वैवमग्निनामानि गृह्यकर्म समारभेत् ॥

तथा च वशिष्ठः—

अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते ।
पावमानः पुंसवने शृङ्गारः कर्णवधने ॥
सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रबलो जातकर्मणि ।
नाम्नि तु पार्थिवो वह्निः प्राशने तु शुचिः स्मृतः ॥
सभ्यो नामाऽग्निश्चौले तु व्रतादेशे समुद्भवः ।
गोदाने सूर्यनामा तु विवाहे योजकः स्मृतः ॥
चतुर्थ्यां साक्षिनामा तु धृतिरग्निस्तथा परः ।
आवसथ्ये भवो ज्ञेयौ वैश्वदेवे तु पावकः ॥
ब्रह्मा च गार्हपत्ये तु ईश्वरो दक्षिणस्तथा ।
विष्णुश्चाऽऽहवनीये च अग्निहोत्रे त्रयोऽग्नयः ॥
वह्निस्तु लक्षहोमे तु कोटिहोमे हुताशनः ।
पूर्णाहुत्यां*मृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा ॥
प्रायश्चित्ते दितिर्नाम पाकयज्ञेषु साहसः ।
पौष्टिके बलदो नाम क्रोधाग्निश्चाभिचारिके ॥
वृष्ट्यर्थे शिखिनामाऽग्निर्वनदाहेषु सूचकः ।
कुक्षौ तु जठराग्निश्च क्रव्यादो मृतभक्षिणे ॥
वृषोत्सर्गे रौद्रनामा नीलोद्वाहे तथा हि सः ।

* पूर्वं प्रज्वलितो वह्निर्हविर्द्रव्यं तु मीलितः ।
तृप्तो निर्धूम–निर्ज्वालो मृडाग्निः परिकीर्तितः ॥ (मुहूर्त्तरत्नावली)

देवानां हव्यवाहोऽग्निः पितॄणां कव्यवाहनः ॥
समुद्रे वाडवो वह्निः क्षये सम्वर्तकस्तथा ।

अन्यच्च—

लौकिके पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकल्पितः ।
अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते ॥
पुंसवने चन्द्रनामा शुङ्गाकर्मणि शोभनः ।
सीमन्ते मङ्गलो नाम प्रगल्भो जातकर्मणि ॥
नाम्नि स्यात् पार्थिवो ह्यग्निः प्राशने च शुचिस्तथा ।
सत्यनामा च चूडायां व्रतादेशे समुद्भवः ॥
गोदाने सूर्यनामा च केशान्ते ह्यग्निरुच्यते ।
वैश्वानरो विसर्गे तु विवाहे योजकस्तथा ॥
चतुर्थ्यां तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथाऽपरे ।
प्रायश्चित्ते विधुश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ॥
लक्षहोमे च वह्निः स्यात् कोटिहोमे हुताशनः ।
पूर्णाहुत्यां मृडो नाम शान्तिके वरदः स्मृतः ॥
पौष्टिके बलदश्चैव क्रोधोऽग्निश्चाभिचारके ।
कोष्ठे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे ॥
आहूय चैव होतव्यो यो यत्र विहितोऽनलः ।

नवग्रहों के अग्नि नाम

आदित्ये कपिलो नाम पिङ्गलः सोम उच्यते ।
धूमकेतुस्तथा भौमे जाठरोऽग्निर्बुधे स्मृतः ॥

उपर्युक्त अग्नि-सम्बन्ध के श्लोकों के अर्थ सुस्पष्ट होने के कारण हिन्दी में अर्थ नहीं लिखा गया है ।

बृहस्पतौ शिखी नाम शुक्रे भवति हाटकः।
शनैश्चरे महातेजा राहौ केतौ हुताशनः॥
(संस्कारगणपति)

यज्ञादि में त्याज्य अग्नि

चाण्डालाग्निरमेध्याग्निः सूतकाग्निश्च कर्हिचित्।
पतिताग्निः चिताग्निश्च न शिष्टग्रहणोचितः॥ (देवलः)

'चाण्डाल की अग्नि, अपवित्र अग्नि, अशौचकी अग्नि, पतित की अग्नि, और चिताकी अग्नि का व्यवहार शिष्ट लोगों को उचित नहीं है।'

होम क्या है ?

देवतोद्देश्यपूर्वक मुख्यरूपसे हविर्द्रव्य के प्रक्षेपात्मक त्यागको 'होम'कहते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्रकारने भी 'होम' का लक्षण इस प्रकार किया है—

'उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदानाः जुहोतयः।' (१।२।७)

'जिस कर्म विशेष में बैठ कर स्वाहाकार पूर्वक हविर्द्रव्य का त्याग किया जाय उसे 'होम' कहते हैं।'

होम में* मुद्रा की आवश्यकता

होमे मुद्रा स्मृतास्तिस्रो मृगी हंसी च सूकरी।
मुद्रां विना कृतो होमः सर्वो भवति निष्फलः॥
शान्तिके तु मृगी ज्ञेया हँसी पौष्टिक-कर्मणि।
सूकरी त्वभिचारे तु कार्या तन्त्रविदुत्तमैः॥
(परशुरामकारिका)

'होम में मृगी, हंसी और सूकरी यह तीन प्रकार की मुद्रा कही गई हैं ! मुद्रा के बगैर किया हुआ होम सर्वथा निष्फल होता है। शान्तिकर्म में मृगी

---

* कनिष्ठातर्जनीहीना मृगीमुद्रा निरुच्यते।
हंसी मुक्तकनिष्ठा स्यात् करसङ्कोचसूकरी॥
(परशुरामकारिका)

मुद्रा, पौष्टिककर्म में हंसी और अभिचारात्मक (मारणात्मक) कर्म में सूकरी मुद्रा से होम करना चाहिये, यही उत्तम तन्त्र-शास्त्रियों के लिये उचित है ।'

कारिका में भी मुद्रा के विषय में लिखा है—

होमे मुद्रा त्रिधा ज्ञेया मृगी हंसी च सूकरी ।
यज्ञे शान्तिककल्याणे मृगी हंसी प्रकीर्तिता ॥
अभिचारादिके होमे सूकरी कथिता बुधैः ।

'होम में मृगी, हंसी और सूकरी यह तीन प्रकार की मुद्रा कही गई हैं । यज्ञ तथा शान्ति-कल्याण-कार्यों में मृगी-मुद्रा से और हंसी तथा अभिचारादि कृत्यों में सूकरी मुद्रा से कार्य करना चाहिये, ऐसा विद्वानों ने कहा है ।'

होमादि में हस्तस्वर का निषेध

श्रौतोल्लास में कहा है—

उपस्थाने जपे होमे दोहे च यज्ञकर्मणि ।
हस्तस्वरं न कुर्वीत शेषास्तु स्वरसंयुता ॥

'उपस्थान में, जप में, गोदोहन (गोदोहन कर्म श्रौतयाग में होता है) में और यज्ञ-कर्म में हस्तस्वर नहीं लगाना चाहिये । शेष कर्मों में स्वर लगाना चाहिये ।'

अन्यत्र भी कहा है—

जपे होमे मखे श्राद्धेऽभिषेके पितृकर्मणि ।
हस्तस्वरं न कुर्वीत सन्ध्यादौ देवपूजने ॥

'जप में, होम में, यज्ञ में, श्राद्ध में, अभिषेक में, पितृकर्म में, सन्ध्या में तथा देव-पूजन में हस्तस्वर नहीं लगाना चाहिये ।'

होमादि में कण्ठस्वर ही आवश्यक है

उपस्थाने जपे होमे मार्जने यज्ञकर्मणि ।
कण्ठस्वरं प्रकुर्वीत .... ॥

'उपस्थान में, जप में, होम में, मार्जन में तथा यज्ञ-कर्म में केवल कण्ठ-स्वर ही करना चाहिये ।'

होम के समय बोलना नहीं चाहिये

होम के समय में होम-क्रिया के अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसा कि वृद्ध मनु ने लिखा है----

स्नातश्च वरुणस्तेजो जुह्वतोऽग्निः श्रियं हरेत् ।
भुञ्जानस्य यमस्त्वायुः तस्मान्न व्याहरेत् त्रिषु ॥

'स्नान करते समय बोलने वाले के तेज को वरुण हरण कर लेते हैं, हवन करते समय बोलने वाले की श्री को अग्निदेव हरण करते हैं तथा भोजन करते समय बोलने वाले की आयुको यम-देव हरण कर लेते हैं, अतः उक्त तीनों कर्मों में मनुष्य को बोलना नहीं चाहिये।'

हवन से वृष्टि आदि की उत्पत्ति

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

(मनुस्मृति, ३।७६)

'अग्नि में विधि-विधान पूर्वक डाली हुई आहुति सूर्य-देव को प्राप्त होती है, पश्चात् उससे वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है।'

गीता (३।१४) में भी लिखा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

'समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है और वृष्टि यज्ञ से होती है और वह यज्ञ कर्म से होता है।'

हवन का प्रकार

उत्तानेन तु हस्तेन अङ्गुष्ठाग्रेण पीडितम् ।
संहताङ्गुलिपाणिस्तु वाग्यतो जुहुयाद्धविः ॥

'सीधे हाथ से एवं अङ्गुष्ठाग्र से दबाये हुए हवि को परस्पर में मिली हुई अङ्गुली-युक्त हाथ से मौन होकर हवन करे।'

आहुति किसे कहते हैं ?

देवताओं के उद्देश्य से एकवार हविर्द्रव्य का जितना अंश देवताओं के प्रति *'स्वाहा' कह कर समर्पण किया जाता है उसे 'आहुति' कहते हैं ।

कहा भी है—

'देवोद्देशेन वह्नौ मन्त्रेण हविः प्रक्षेप आहुतिः ।' (का० २।१।२०)

तथा च—

'स्वाहाकारेण संस्कृतं हविः स्वाहाकृतम् ।'

(वा० सं० २६।३७, तैत्ति० १०।११।११)

ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है—

'ह्वयति देवाननया सा आहूतिः । जुहोति प्रक्षिपति हविरनया इति वा । * आहूतयो नामैता यदाहुतयः, एताभिर्देवान् यजमानो ह्वयति तदाहूतीनामाऽऽहूतित्वम् ।' (१।१।२)

'जिससे देवताओं को बुलाया जाय उसे 'आहुति' कहते हैं । तथा जिससे हविर्द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप किया जाय उसे 'आहुति' कहते हैं । आहुति को आहुतित्व इसलिये है कि इनके द्वारा यजमान देवताओं को बुलाता है ।'

आहुति का काल

मन्त्रेणोङ्कारपूतेन स्वाहान्तेन विचक्षणः ।
स्वाहावसाने जुहुयाद् ध्यायन् वै मन्त्रदेवताम् ॥

(देवयाज्ञिक)

'ॐकार से पवित्र तथा स्वाहान्त मन्त्र से स्वाहा के अवसान में मन्त्र-देवता का ध्यान करता हुआ विद्वान् आहुति दे ।'

---

* देवतोद्देश्यपूर्वकत्यागवाचक 'स्वाहा' शब्दप्रयोगेण विषयीकृतत्वं स्वाहाकृतत्वम् ।

* लोक में 'आहुति' शब्द ही प्रचलित है, अतः उसके साधनार्थ आङ्पूर्वक 'हु दानादनयोः' इस धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करना चाहिये ।

'आहूति' शब्द में तो आङ् पूर्वक 'ह्वेञ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होता है ।

इसकी पुष्टि विष्णुधर्म में भी मिलती है—

मन्त्रेणोङ्कारपूतेन स्वाहान्तेन विचक्षणः।
स्वाहावसाने जुहुयाद् ध्यायन्वै मन्त्रदेवताम् ॥

कर्म-कौमुदी में 'आहुति' का काल निम्न प्रकार से कहा गया है—

स्वाहावसाने जुहुयात् स्वाहया सह वा हविः।
त्यागान्ते ब्रुवते केचिद् द्रव्यप्रक्षेपणं बुधाः ॥

'होता स्वाहा के अन्त में हवन करे अथवा स्वाहा के साथ करे। कुछ विद्वानों का मत है कि हविर्द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप कर ही 'स्वाहा' शब्द कहना चाहिये।'

उपर्युक्त कथन की पुष्टि परशुराम कारिका में भी की गई है—

स्वाहान्ते जुहुयात् होता स्वाहया सह वा हविः।
त्यागान्ते ब्रुवते केचित् द्रव्यप्रक्षेपणं बुधाः ॥

कुछ आचार्यों का **'स्वेच्छया जुहुयाद्धविः'** यह भी मत है, किन्तु हम इस मत से सहमत नहीं है। स्वेच्छाचार से तो भयङ्कर अनवस्था दोष हो जायगा। अतः उपर्युक्त देवयाज्ञिक एवं विष्णुधर्म, कर्मकौमुदी, परशुरामकारिका आदि के ही मत मान्य और अनुकरणीय हैं।

हवनीय द्रव्य (शाकल्य) और उसका परिमाण

'व्रीहीन् यवान्वा हविषि' (का० श्रौ०) तथा **'होमं समारभेत् सर्पिर्यवव्रीहितिलादिना'** (अनुष्ठानप्रकाश) इत्यादि श्रुति-स्मृति प्रमाणों से तिल, यव, चावल और घृत की ही हविर्द्रव्य संज्ञा सिद्ध होती है। हवनादि में विशेषतया उपर्युक्त हविर्द्रव्य का ही अधिक उपयोग होता है।

हवनार्थ हवनीय द्रव्य की आहुति देने के विषय में शास्त्रज्ञों ने एक नियमित व्यवस्था कर दी है। अतः याज्ञिकों को उचित है कि जिस द्रव्य के विषय में जो परिमाण बतलाया गया हो तदनुकूल द्रव्य-योजना कर हविर्द्रव्य का व्यवहार करना चाहिये। शास्त्रानुमोदित मार्ग के अनुकूल कार्य करने से ही फल होता है अन्यथा लाभ के बदले अनेक प्रकार की हानि भोगनी पड़ती है। हविर्द्रव्य के परिमाण का विवरण शास्त्रों में इस प्रकार मिलता है—

तिलास्तु द्विगुणाः प्रोक्ता यवेभ्यश्चैव सर्वदा ।
अन्ये सौगन्धिकाः स्निग्धा गुग्गुलादि यवैः समाः ॥

'यव की अपेक्षा तिल को द्विगुणित रखना चाहिये और अन्य सुगन्धित गुग्गुल इत्यादि द्रव्यों को यव के बराबर ही रखना चाहिये ।'

आयुः क्षयं यवाधिक्यं यवसाम्यं धनक्षयम् ।
सर्वकामसमृद्ध्यर्थं तिलाधिक्यं सदैव हि ॥ (त्रिकारिकायाम्)

'यव के अधिक होने पर आयुका नाश होता है, यव के बराबर तिल रहने पर धन का नाश होता है अतः सर्वदा तिल की अधिकता पर ध्यान रखना चाहिये । इससे सम्पूर्ण कार्यों की सिद्धि होती है ।'

अन्यत्र लिखा है—

पञ्चभागास्तिलाः प्रोक्तास्त्रिभागो यव एव च ।
द्वौ भागौ तण्डुलस्योक्तौ भागैकं गुग्गुलादिकम् ॥
रुद्रभागैः कृते होमे जायते सिद्धिरुत्तमा ॥

'पाँच हिस्सा तिल, तीन हिस्सा यव, दो हिस्सा चावल और एक हिस्से में गुग्गुल इत्यादि सुगन्धित द्रव्य इस प्रकार एकादश भागों से संयुक्त आहुति से सर्वप्रकार की उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ।'

पुनश्च—

तदर्द्धं तु यवाः प्रोक्ताः तदर्द्धं तण्डुलाः स्मृताः ।
तदर्द्धं शर्करा प्रोक्ता आज्यभागचतुष्टयम् ॥

'तिल का आधा यव, यव का आधा चावल, चावल की आधी चीनी और चतुर्गुण घृत से शाकल्य का निर्माण उत्तम कहा गया है ।'

तथा—

वेदभागास्तिलानां स्युः भागोनास्तु यवाः स्मृताः ।
द्विभागं च घृतं प्रोक्तं भागमेकं च तण्डुलाः ॥

'चार भाग तिल, तीन भाग यव, दो भाग घृत और एक भाग चावल का शाकल्य उत्तम होता है।'

'तिलाः कृष्णा घृताभ्यक्ताः किञ्चिद्यवसमन्विताः।'

(शान्तिरत्न)

किञ्च—

'तिलाधिक्ये भवेल्लक्ष्मीर्यवाधिक्ये दरिद्रता।'

'तिल की अधिकता से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है और यव की अधिकता से दरिद्रता की प्राप्ति होती है।'

इस प्रकार उपर्युक्त मत-मतान्तरों की आलोचना से **'बहुवचनं प्रमाणम्'** (अनेक वचन जिस विषय को कहें वही प्रमाणभूत है) इस न्याय से यही निष्कर्ष निकलता है कि तिलकी अधिकता से ही यजमान को सर्वविध सिद्धियाँ होती हैं।

कहीं कहीं ग्रन्थ विशेष में **'यवार्द्धं तण्डुलाः प्रोक्ताः तण्डुलार्द्धं तथा तिलाः'** यह वचन भी मिलता है। यद्यपि यह वचन यवाधिक्य का ही विधान सिद्ध करता है किन्तु सहायक प्रामाणिक वचनान्तरों की न्यूनता के कारण यवाधिक्य ही सर्वथा उपेक्षणीय और त्याज्य है।

नित्य कर्म में विहित हवनीय द्रव्य के अभाव में प्रतिनिधि द्रव्य

नित्य हवन-कर्म में विहित द्रव्य के अभाव में प्रतिनिधि द्रव्य से भी कार्य हो सकता है। जैसा कि महर्षि कात्यायन ने भी कहा है—

'नित्ये सामान्यतः प्रतिनिधिः स्यात्।'

(का. श्रौ. १।४।२)

अन्यत्र भी कहा है—

घृतार्थे गोघृतं ग्राह्यं तदभावे तु माहिषम्।
आजं वा तदभावे तु साक्षात्तैलमपीष्यते॥
तैलाभावे ग्रहीतव्यं तैलं जर्तिलसम्भवम्।
तदभावेऽतसीस्नेहः कौसुम्भः सर्षपोद्भवः॥

वृक्षस्नेहोऽथवा ग्राह्यः पूर्वालाभे परः परः।
तदभावे यवव्रीहिश्यामाकान्यतमोद्भवः॥

(मण्डनः)

'हवन के लिये सब से अच्छा गो घृत होता है, उसके अभाव में भैंस का घृत, उसके अभाव में बकरी का घृत, उसके अभाव में शुद्ध तेल, तेल के अभाव में जर्तिल का तेल, उसके अभाव में तीसी का तेल, उसके अभाव में कौसुम्भ अथवा सरसों का तेल, उसके अभाव में गोंद से, उसके अभाव में यव, चावल, सांवा इन तीनों में से किसी एक के तेल से काम चलावे।'

बौधायन का भी यही मत है—

आज्यहोमेषु सर्वेषु गव्यमेव भवेद् घृतम्।
तदलाभे तु माहिष्यं आजमाविकमेव वा॥
तदभावे तु तैलं स्यात्तिलाभावे तु जातिलम्।
तदभावे तु कौसुम्भं तदभावे तु सार्षपम्॥

विष्णुधर्मोत्तर में भी कहा है—

दध्यलाभे पयः कार्यं मध्वलाभे तथा गुडः।
घृतप्रतिर्निधिं कुर्यात पयो वा दधि वा नृप॥

'दधि के अभाव में दुग्ध से, शहद के अभाव में गुड़ से, घृत के अभाव में दुग्ध अथवा दधि से काम चलावे।'

प्रज्वलित अग्नि में ही हवन करना चाहिये

योऽनर्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः।
मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्चापि जायते॥
तस्मात्समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कथञ्चन॥

(छन्दोगपरिशिष्ट)

'जो मनुष्य तेज-हीन अग्नि तथा अङ्गारहीन अग्नि में आहुति देता है वह मन्दाग्नि, आमय इत्यादि रोगों से दुःखी तथा दरिद्रता को प्राप्त होता है। अतः प्रज्वलित अग्नि में ही हवन करना सर्वथा उचित है।'

* मन्त्र का उच्चारण प्रकार

वर्णः स्पष्टतरः कार्यो नासाश्वासावधीति वा।
मुखश्वासावधि शृण्वन्नभिषेकार्चनादिषु ॥

(बृहद्याज्ञवल्क्य)

'अभिषेक, अर्चन, पूजन, हवन, जप आदि में वर्ण को नासिका के श्वास के रुकने तक वर्ण स्पष्ट उच्चारण करे और मुख से श्वास लेने तक मन्त्र श्रवण करता हुआ वर्ण का स्पष्ट उच्चारण करे।'

गङ्गा आदि नदी के किनारे कुण्ड-मण्डप निर्माणार्थं दिक्साधन अनावश्यक है

यज्ञादि अनुष्ठान को साङ्गोपाङ्ग सफलीभूत बनाने के लिए सर्वप्रथम

---

* मन्त्राश्चतुर्विधाः—करणमन्त्रः, क्रियमाणानुवादिमन्त्रः, अनुमन्त्रणमन्त्रः, जपमन्त्रश्चेति।

१—करणमन्त्रः—यस्य मन्त्रस्योच्चारणानन्तरमेव कर्म क्रियते स करणमन्त्रः। यथा—याज्या पुरोऽनुवाक्यादिकम्। अथवा—यं मन्त्रं पूर्वमुच्चार्य मन्त्रान्ते कर्म क्रियते स करणमन्त्रः।

२—क्रियमाणानुवादिमन्त्रः—कर्मानुष्ठानसमकालमेव यो मन्त्रः पठ्यते स क्रियमाणानुवादी मन्त्रः। यथा—"युवा सुवासा" (ऋग्वेद ३।१।३) इत्यादिः। अथवा क्रियाकरणकाल एव यो मन्त्रः पठ्यते स क्रियमाणानुवादी मन्त्रः।

३—अनुमन्त्रणमन्त्रः- कर्मसमनन्तरं यो मन्त्रः पठ्यते सोऽनुमन्त्रणमन्त्रः। यथा—"एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि" (श० ब्रा० १।५।५।७) इत्यादिः। अयं हि मन्त्रो यजमानेन द्रव्यत्यागात्मके यागे कृते समनन्तरमेव तेन पठ्यते।

४—जपमन्त्रः—एतदतिरिक्तो यो नाम "मयीदमिति यजमानो जपति" (३।४।१८) इत्यादिना विहितः सन्निपत्योपकारकरूपः जपमन्त्रः। अथवा अदृष्टार्थं कर्मकाले पठनीयो मन्त्रः जपमन्त्रः। पूर्वोक्तानां त्रयाणामनुष्ठेयार्थस्मारकत्वरूपं दृष्टं प्रयोजनम्। जपमन्त्राणां तु अदृष्टमात्रं प्रयोजनमिति याज्ञिकानां मीमांसकानां च सिद्धान्तः।

कुण्ड-मण्डप की आवश्यकता होती है। कुण्ड-मण्डप बनाने के पूर्व मण्डपार्थ भूमि का परीक्षण तथा दिक्साधन सर्वत्र परमावश्यक है। दिक्साधन किये बगैर कुण्डमण्डप शुद्ध और शुभप्रद नहीं होता है। ऐसी स्थिति में भी शास्त्रज्ञों ने गङ्गा आदि पवित्र नदी के ×तीर में तथा पर्वतादि में दिक्साधन को अनावश्यक कहा है—

स्थण्डिले पर्वताग्रे च नदीकूले गृहेऽपि च।
न प्राचीसाधनं कुर्यात् मण्डपादिषु कर्मसु॥
(दानकल्पलता)

'स्थण्डिल में, पर्वतीय-भूमि में, नदी के किनारे और घर में दिक्साधनादि मण्डपोपयोगि क्रिया नहीं करनी चाहिये।'

यज्ञादि के अन्त में गादान करना आवश्यक है

'गां दद्यात् यज्ञ-वास्त्वन्ते ब्राह्मणे वाससी तथा।'
(कात्यायनः)

'यज्ञ और वास्तु आदि के अन्त में ब्राह्मण को गौ तथा वस्त्रादि अवश्य देना चाहिंये।'

यज्ञ-पात्र निर्माण-कर्त्ता कौन त्याज्य है?

यज्ञादि में यज्ञपात्रों की आवश्यकता पड़ती है। यज्ञ-पात्रों के बगैर यज्ञ कार्य सम्पादन नहीं हो सकता। जिन पात्रों का यज्ञ जैसे महत्त्वपूर्ण पवित्र कर्म में सदुपयोग होता है उन यज्ञपात्रों का निर्माण कर्त्ता शास्त्र के कथनानुकूल ही होना चाहिये। देखिये, इस विषय में भविष्य-पुराण क्या कहता है—

मृतभार्यो ह्यभार्यश्च अपुत्रो मृतपुत्रकः।
शूद्रसंस्कारकश्चैव कृपणो गणयाजकः॥

× "भाद्रकृष्णचतुर्दश्यां यावदाक्रमते जलम्।
तावद्गर्भं विजानीयात्तदूर्ध्वं तीरमुच्यते॥" (वर्षक्रियाकौमुदी)
तथा च ब्रह्माण्डे—'सार्द्धहस्तशतं यावत् गर्भतस्तीरमुच्यते।'
'तीराद्गव्यूतिमात्रं तु परितः क्षेत्रमुच्यते।' (ब्रह्माण्डपुराण)
'एकयोजनविस्तीर्णा क्षेत्रसीमातटद्वयात्।' (ब्र० पु०)

प्रायश्चित्तगृहीतश्च राजयाजकपैशुनौ ।
शूद्रगेहनिवासी च शूद्रप्रेरक एव च ॥
स्वल्पकण्ठो वामनश्च वृषलीपतिरेव च ।
बन्धुद्वेषी गुरुद्वेषी भार्याद्वेषी तथैव च ॥
हीनाङ्गश्चैव वृद्धाङ्गो भग्नदन्तश्च दाम्भिकः ।
प्रतिग्राही च कुनखः पारदारिक एव च ॥
श्वित्रीकुष्ठिकुलोद्भूतो निद्रालुर्व्यसनार्थकः ।
अदीक्षितः कदर्यश्च चण्डरोगी गलद्व्रणः ।
महाव्रणी च उदरी यज्ञपात्रं न कारयेत् ॥

'जिसकी स्त्री मर गई हो, जिसका विवाह न हुआ हो, जिसको पुत्र न हुआ हो, जिसका पुत्र मर गया हो, जो शूद्रों को विवाहादि संस्कार कराता हो, कृपण, नीचों को यज्ञ कराने वाला, प्रायश्चित्त में गृहीत, राजा को यज्ञ कराने वाला, पिशुन (निन्दक) शूद्र के घर में निवास करने वाला, शूद्रों को ज्ञान देने वाला, लघु कण्ठ वाला, बौना, शूद्रा से सम्बन्ध रखने वाला, बन्धुओं से द्वेष रखने वाला, गुरु से द्वेष रखने वाला, अपनी स्त्री से द्वेष रखने वाला, किसी अङ्ग से हीन या जिसका कोई अङ्ग बढ़ गया हो, जिसके दांत टूट गये हों, पाखण्डी, असत्-प्रतिग्रह लेने वाला, खराब नाखूनों वाला, परस्त्री-गमन करने वाला, सफेद कुष्ठ वाला, कुष्ठी-कुल में उत्पन्न, अधिक सोने वाला, व्यसनी, जिसने दीक्षा न लिया हो, जन-समाज में निन्दित, भयङ्कर रोग वाला, जिसके शरीर में कोई घाव गलता हो, बड़े फोड़े वाला तथा बड़े पेट वाला पुरुष इन लक्षणों से युक्त पुरुष से यज्ञपात्रों को निर्माण नहीं कराना चाहिये।'

यज्ञ-पात्रों का शुद्धि प्रकार

यज्ञादि में उपयुक्त होनेवाले यज्ञपात्रों की शुद्धि दाहिने हाथ से पवित्र कुशा द्वारा जल के प्रक्षालन-मात्र से ही होती है। भगवान् मनु कहते हैं—

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।

[1]चमसानां [2]ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥
[3]चरूणां [4]स्रुक्-[5]स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
[6]स्फ्य [7]शूर्प-[8]शकटानां च [9]मुसलो[10]लूखलस्य च ॥
(५। ११६–११७)

१—चमत्यस्मिन्नसौ चमसः । पलाशादिकाष्ठनिर्मितो यज्ञियपात्रविशेषः । तथा च कर्कः—
'स च चमसश्चतुरस्रो द्वादशाङ्गुलदीर्घश्चतुरङ्गुलखातः सवृन्तश्च भवति ।' इति ।
२—गृह्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या सोमाधारभूतं पात्रं ग्रहशब्देनाभिधीयते ।
३—चरति होमादिकमस्मादसौ चरुः—ओदनविशेषः । 'चरुर्वै देवानामन्नमोदनो हि चरुः' (श० ब्रा० ४।४।२।१) अथवा—परिपक्वास्तण्डुलाश्चरुः शब्देनोच्यते । तत्स्वरूपमुक्तं सारसङ्ग्रहे—

"अनिर्गतोष्मा सुस्विन्नो ह्यदग्धोऽकठिनश्चरुः ।
न चातिशिथिलः पाच्यो न च वीतरसो भवेत् ॥"

.४—पलाशादिकाष्ठनिर्मिता बाहुप्रमाणाः पाणिप्रमाणमुखास्त्वक्प्रदेशे बिलवत्यो हंसमुखसदृशैकप्रणालिका मूलदण्डा भवन्ति । ताश्च तिस्रः—जुहूः, उपभृत्, ध्रुवा च ।
५—खदिरकाष्ठनिर्मितोऽरत्निप्रमाणोऽङ्गुष्ठपर्वप्रमाणवृत्तमुखो भवति । तथा चोक्तं महर्षिणा कात्यायनेन—'खादिरः स्रुवः' (१।३।३३)

'अरत्निमात्रः स्रुवोऽङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करः ।' (१।३।२६)

तथा च—अङ्गुष्ठपर्ववृत्तः स्यात् रत्निमात्रः स्रुवो भवेत् ।
पुष्करार्द्धं भवेत् खातं पिण्डकार्द्धं (मुष्ट्यर्द्धम्) स्रुवस्तथा ॥ (रेणुः)
६—खदिरकाष्ठनिर्मितः खड्गाकारोऽरत्निमात्रो भवति । तथा चोक्तम्—

शम्या प्रादेशमात्रा स्यात् खादिरः स्फ्यः प्रकीर्तितः ।
खड्गाकारो रत्निमात्रो वज्ररूपो मखे स्मृतः ॥

७—शूर्प्यते धान्यादिकमनेनेति शूर्पः । श्रौतप्रयोगे शूर्पस्योपयोगो भवति ।
८—अनड्वहनकाष्ठनिर्मितं शकटशब्देनोच्यते ।
९—धान्यकण्डनसमर्थं मुसलं काष्ठपात्रम् । अथवा—मुहुर्मुहुः सरति व्रीह्यादिषु इति मुसलम् । उक्तं च यास्केन—'मुसलं मुहुः सरं भवति ।' (६।२।२६)
१०—धान्यादिधारणसमर्थं उलूखलमित्युच्यते अथवा—ऊर्ध्वं खम् उलूखं

'यज्ञ-कर्म में यज्ञ-पात्रों की शुद्धि हस्त-द्वारा मार्जन करने से और चमस तथा ग्रह नाम के पात्रों की शुद्धि जल के धोने से होती है। चरु तथा स्रुक् और स्रुवा आदि यज्ञ-पात्रों की शुद्धि गरम जल से और स्फ्य, शूर्प, शकट, मुसल और ओखली की शुद्धि जल के प्रक्षालन से होती है।'

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी कहा है—

'मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि।' (आचाराध्याय, १८५)

'यज्ञ-कर्म में यज्ञपात्रों की शुद्धि दाहिने हाथ से कुशा द्वारा मार्जन मात्र करने से ही हो जाती है।'

यज्ञीय काष्ठ

पलाशाऽश्वत्थन्यग्रोध प्लक्षवैकङ्कतोद्भवाः।
वैतसौदुम्बरो बिल्वश्चन्दनः सरलस्तथा।
शालश्च देवदारुश्च खदिरश्चेति याज्ञिकाः॥ (ब्रह्मपुराण)

'पलाश (ढाक) की, पीपल की, वट की, पाकर की, वैकङ्कत की, वेंत की, गूलर की, बेल की, चन्दन की, शाल की, देवदारु और कत्था इनकी लकड़ी याज्ञिक कही जाती हैं।'

यज्ञ के आयुध

स्फ्य-कपालादीनि यज्ञस्य साधनानि यज्ञायुधानीत्युच्यते।

'स्फ्य, कपाल इत्यादि यज्ञ के साधनों को यज्ञायुध कहते हैं।'

*यज्ञ संरक्षक देवता

यज्ञादि में गणेश, दुर्गा, वायु, आकाश, अश्विनी-कुमार, वास्तोष्पति और क्षेत्रपाल यह यज्ञ के संरक्षक देवता कहे जाते हैं।

तत् लाति गृह्णाति इति उलूखलम्। उलूखलशब्दस्य यास्केन तु अन्यथ निरुक्तिर्दर्शिता। यथा (९।२।२१)—

'उलूखलमुरुकरं वोर्करं वाध्वंखं वारु मे कुर्वित्यब्रवीत दुलूखलमभवत्। उरुकरं चैतदुलूखलमित्याचक्षतेऽपरोक्षेणेति च ब्राह्मणम्।'

* ग्रहहोमपूजायां गणपति-दुर्गा-वायु-आकाश-अश्वि-वास्तोष्पति-क्षेत्रपालाः क्रतुसंरक्षक देवता उच्यन्ते। (संस्काररत्नमाला)

यज्ञ में सभी को भाग लेना चाहिये

यज्ञ एक अत्यन्त पवित्र कर्म है। इस पवित्र-कर्म में प्रायः समस्त देवगण का निवास रहता है, साथ हीं उसमें अनेक विरक्त साधु, महात्मा, तपस्वी, विद्वान्, उपदेशक आदि दूर-दूर से सम्मिलित होकर यज्ञ की शोभा-वृद्धि में और भी सहायक होते हैं। ऐसे महनीय कार्य में सभी को द्रव्य, अन्न, वस्त्र तथा अन्यान्य साधनों द्वारा सहायता करनी चाहिये। यदि यह न हो सके तो कम से कम यज्ञ-भूमि में उपस्थित होकर यज्ञ भगवान् के दर्शन, प्रदक्षिणा, यज्ञ में आये हुए साधु-महात्माओं का दर्शन और उपदेश श्रवण तथा यज्ञ-प्रसाद आदि अनेक दुर्लभ महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की प्राप्ति द्वारा अपने जन्म को सफलीभूत बनाना चाहिये। यज्ञ भगवान् के दर्शन के विषय में तो यहाँ तक शास्त्रज्ञों ने लिखा है कि-'यज्ञ में भगवान् के दर्शनार्थ तो अनाहूत (बगैर बुलाये) होकर भी जाना चाहिए—'अनाहूतोऽध्वरं व्रजेत्।'

जो मनुष्य शास्त्राज्ञा का उल्लङ्घन करते हुए यज्ञ के विरोधी हैं अर्थात् यज्ञ के सहयोगी नहीं हैं वह तिरस्कार के योग्य हैं और जो मनसा, कर्मणा, वाचा यज्ञ के सहयोगी हैं वह स्वीकृति के योग्य हैं। कृष्ण यजुर्वेद के ऐकपदिक काण्ड में भी कहा है—

'या वै प्रजा यज्ञे अनन्वाभक्ताः पराभूता वै ताः, एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञमुख आभजति।' (३।१।२०)

'जो प्रजा यज्ञ में सहयोगी नहीं है वह पराभूत है अर्थात् तिरस्कृत के योग्य है और जो प्रजा-यज्ञ में सहयोगी है वह अपराभूत है अर्थात् स्वीकृतिं के योग्य है।'

पाँच प्रकार के यज्ञ का निषेध

आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाव प्रकाश' की टीका में निम्नलिखित पाँच प्रकार के यज्ञों के करने का स्पष्ट निषेध किया है। यथा—

विधिहीनं यथाशास्त्रावबोधितविपर्ययम्।
अन्नदानविहीनं च स्वरतो वर्णतस्तथा॥
मन्त्रहीनं यथाशास्त्रं दक्षिणाहीनमध्वरम्।

आस्तिक्यबुद्धिशून्यं तं तामसं कथयन्ति वै ॥
अयं पञ्चविधो यज्ञः त्याज्यः श्रेयोऽर्थिभिः सदा।

'शास्त्रोक्त सिद्धान्तों के विपरीत विधिहीन यज्ञ, अन्नदानादि से रहित यज्ञ, मन्त्रों के स्वर तथा वर्णों के यथार्थ उच्चारण रहित यज्ञ, सर्वथा मन्त्रों से हीन यज्ञ, दक्षिणाहीन यज्ञ और आस्तिक बुद्धि-हीन यज्ञ को * 'तामस' कहते हैं। अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि वह उपर्युक्त पाँच प्रकार के यज्ञों का सर्वदा त्याग करें।'

यज्ञादि में मण्डप और मण्डप का समस्त सामान आचार्य का होता है

यज्ञभाण्डानि सर्वाणि मण्डपोपस्करादिकम्।
यच्चान्यदपि तद् +गेहे तदाचार्याय दापयेत् ॥

(मत्स्यपुराण, २९१।३०)

'यज्ञ में चढ़े हुए या पूजन में लगे हुए वर्त्तन आदि, मण्डप को सजाने की सामग्री, लकड़ी, बाँस वगैरह तथा मण्डप के समस्त उपस्करादि सङ्कल्प करके आचार्य को देना चाहिए।'

अन्यत्र भी लिखा है—

'कुम्भोपकरणं सर्वमाचार्याय निवेदयेत्।' (सनत्कुमार संहिता)

'कुम्भादि समस्त मण्डप-सामग्री आचार्य को देनी चाहिये।'

यज्ञादि के अन्त में भगवत्प्रार्थना आवश्यक है

यज्ञ का स्वरूप बहुत ही विशाल है। यह निर्विवाद है कि बड़े कार्यों में

*विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं कर्म तामसं परिचक्षते ॥ (गीता १७।१३)

और भी कहा है—

'तामसे त्वयथाशास्त्रानुष्ठानान्न फलं मनाक्।'

+यहाँ पर गेहपदेन 'मण्डप' समझना चाहिये।

मनुष्य से किसी न किसी प्रकार त्रुटि हो ही जाती है । फिर यज्ञ में तो यजमान को अनेक कार्यों का आधिक्य रहता है, ऐसी स्थिति में मनुष्य से क्षण-क्षण में त्रुटि हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । कुछ तो मनुष्य से ज्ञानपूर्वक त्रुटि हो जाती हैं और कुछ अज्ञानपूर्वक ही हो जाती हैं जिनका स्वयं भी उसे पता नहीं चलता । अतः कर्म में त्रुटि-जन्य यजमान पाप का भागी न बनें एतदर्थ यज्ञादि के अन्त में कर्म की न्यूनता की पूर्ति के लिये यजमान को भगवान् से इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—

ॐप्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ।
स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥
यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

'श्रुति में कहा है—यज्ञ में कर्म करने वालों का जो कर्म यदि प्रमादवश छूट जाय तो उसकी पूर्णता भगवान् विष्णु के स्मरण-मात्र से ही हो जाती है ।'

'जिन भगवान् के स्मरण और नामोच्चारण से ही तप, यज्ञ आदि कर्मों की न्यूनता की तत्क्षण पूर्त्ति हो जाती है, उन भगवान् अच्युत को मैं भक्ति-पूर्वक प्रणाम करता हूँ ।'

रचिता यज्ञ-मीमांसा **वेणीरामेण शर्मणा** ।
समापिता, स भगवान् तुष्यत्वेतेन कर्मणा ॥

* श्रीयज्ञपुरुषभगवत्स्मरणात्परिपूर्णतास्तु *

* इति *

——*——

परिशिष्ट भाग

*यज्ञ-सामग्री

॥) रोली	दुग्ध १ पाव (प्रतिदिन)	१) इलायची बड़ी
॥) मौली	)॥ दधि ,,	१) इलायची छोटी
॥) धूप (अगर)	॥) सहत	१) जावित्री
१) धूपबत्ती	घृत	१) जायफल
१) केसर	चीनी	५) पञ्चमेवा
१) कपूर	गोवर	कस्तूरी
१) सिन्दूर	गोमूत्र	कुशा
चन्दनका मुट्ठा २	यज्ञोपवीत ४ कोड़ी	दूर्वा, गंगाजल, तुलसी
होरसा १	॥) अवीर (गुलाल)	अग्निहोत्र भस्म
॥) बतासा	॥) बुक्का (अभ्रक)	पीली हलदी १ सेर
पेड़ा १ सेर (प्रतिदिन नवीन चाहिये)	कसोरा २००	मेंहदीकी बुकनी १ सेर
	पत्तल २००	पीली सरसों १ पाव.
॥) ऋतुफल ,,	पुरवा २००	नारियल १०
पान ५० ,,	१) लवंग	नारियल गोला १०

* यज्ञ-सामग्री का उल्लेख शास्त्र-पद्धति के अनुसार किया गया है अतः शास्त्रानुकूल सामग्री का संग्रह सर्वथा उचित है, किन्तु जो यज्ञकर्ता ऐसा करने में वस्तुतः असमर्थ हों उन्हें चाहिये कि वह अपनी शक्ति के अनुसार ही यज्ञ-सामग्री संग्रह कर यज्ञादि कर्म में यज्ञ-पुरुष भगवान् को भक्ति-भाव से परिपूर्ण होकर निवेदन करें। ऐसा करनेवालों को भी उतनाही फल होगा जितना कि अत्यधिक यज्ञ-सामग्री निवेदन करने वालों को होता है। वास्तविक में 'भावमिच्छन्ति देवताः' भगवान् तो केवल भाव के ही भूखे हैं न कि द्रव्यादि के। स्वयं भगवान् ने भी गीता में—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥"

इत्यादि वाक्यों द्वारा भक्ति-भाव को ही मुख्य और अपनी सर्व-प्रिय वस्तु कहा है।

पञ्चरत्न[1] (सुवर्ण, हीरा, नीलम, पोखराज और मोती)

सर्वौषधि[2] (कुट, जटामासी, आँबाहलदी और दारूहलदी, मुरा, शिलाजीत, चन्दन का चूर, वच, चम्पा और नागर मोथा)

सप्तमृत्तिका[3] (हाथी के स्थान की, घोड़े के स्थान की, विल (डीमक) स्थान की, सङ्गम (जहाँ पर दो नदियों का मिलन हुआ हो) स्थान की, तालाव की, गोशाला और चतुष्पथ (राजद्वार अथवा कचहरी) की मृत्तिका)

सप्तधान्य[4] (यव, गेहूँ, धान, तिल, ककुनी, सावाँ और चना)

पञ्चरङ्ग[5] १—सफेद रङ्ग [चावल अथवा यव का चूर्ण]
२—लाल रङ्ग [कुसुंभ, सिन्दूर अथवा गेरू]
३—पीला रङ्ग [हरिताल, अथवा हलदी]
४—काला रङ्ग [यव का जला हुआ चूर्ण]
५—नीला रङ्ग [पीला और काला रङ्ग मिला हुआ]

नवग्रह समिधा[6] (मदार की १०८, पलाश की १०८, खैर की १०८,

१—"कनकं कुलिशं नीलं पद्मरागं च मौक्तिकम्।" (आदित्यपुराण)

२—"कुष्ठं मांसी हरिद्रे द्वे मुरा-शैलेयचन्दनम्।
वचा-चम्पक-मुस्तं च सर्वौषध्यो दश स्मृताः॥" (छन्दोगपरिशिष्ट)

३—"गजाऽश्वरथ्या-वल्मीक-सङ्गमाद्ध्रदगोकुलात्।
मृदमानीय कुम्भेषु प्रक्षिपेत् चत्वरादपि॥" (भविष्यपुराण)

४—"यव-गोधूम-धान्यानि तिलाः कङ्गुस्तथैव च।
श्यामकाश्चणकाश्चैव सप्तधान्यमुदाहृतम्॥" (भविष्यपुराण)

५—"रजांसि पञ्चवर्णानि मण्डलार्थं हि कारयेत्।
शालि-तण्डुलचूर्णेन शुक्लं वा यवसम्भवम्॥
रक्तं कुसुम्भ-सिन्दूर-गैरिकादि समुद्भवम्।
हरितालोद्भवं पीतं रजनीसम्भवं तथा॥
कृष्णं दग्धयवैर्नीलं पीतकृष्णविमिश्रितम्॥" (पञ्चरात्र)

६—अर्कः पलाशः खदिरस्त्वपामार्गोऽथ पिप्पलः।
उदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधस्त्विमाः॥

अपामार्ग की १०८, पीपल की १०८, गूलरकी १०८, शमीकी १०८ दुर्वा की १०८ और कुशा की १०८)

मृगचर्म १		दियासलाई
कंबल १		पीढा २
नारियल की जटा		चौकी २
फुकनी		घण्टा १
सुतरी		घडौल १
गोयठा सूखा		शंख १
अथरी मृत्तिका		तांबेका तार २० हाथ
पंखा		शङ्कु लोहे के ४
प्रधान कलश	१	(चांदी, ताम्र अथवा पीतल का) [हरिहरयाग में प्रधान कलश २ होंगे]
प्रवेश कलश	१	,,
वास्तु कलश	१	,,
योगिनी कलश	२	,,
क्षेत्रपाल कलश	१	,,
ग्रह कलश	१	,,
गङ्गासागर	२	,,
अभिषेक पात्र	१	,
पूर्णपात्र	१	,,
कटोरी	२	,,
चरुस्थाली	१	,,
थाली	२	,,

एकैकस्याष्टशतकमष्टाविंशति वा पुनः ।
होतव्या मधुसर्पिभ्यां दध्ना चैव समन्विताः ॥
प्रादेशमात्राः समिधः सरला अपलाशिनीः ।
समिधः कल्पयेत् प्राज्ञः सर्वकर्मसु सर्वदा ॥
(मत्स्यपुराण)

परांत	२	,,
कड़छी	१	,,
सड़सी	१	,,
चिमटा	१	,,
छायापात्र	१	(कांसेका)
कटोरा	२	,,

* वरण-सामग्री (ऋत्विजों के लिये)—

धोती
डुपट्टा
अंगोछा
यज्ञोपवीत
पंचपात्र
आचमनी
तष्टा
अर्घा
लोटा
गिलास
छाता
कुशासन

कंबलासन
कटोरी (मधुपर्कार्थ प्रत्येक ब्राह्मण के लिये दो दो)
गोमुखी
रुद्राक्षमाला
पुष्पमाला
खड़ाऊँ
अँगूठी (सुवर्ण)

नान्दीश्राद्ध के लिए—

धोती ४
डुपट्टा ४

देवताओं को चढ़ाने के वस्त्र—

प्रधान देवता के लिये श्रेष्ठ वस्त्र २

धोती	२१
डुपट्टा	२१
चुँदड़ी रेशमी	१
लाल वस्त्र गज	८

मण्डपार्थ वस्तु—

थान कपड़ा सफेद			२
थान	,,	लाल	१
थान	,,	काला	१
थान	,,	नीला	१

* जितने ऋत्विजों का वरण अभीष्ट हो उतनो ही धोती आदि सामान की योजना कर लेनी चाहिये ।

थान ,, हरा	१		सिंहासन	१	(चाँदी का)
थान ,, पीला	६		छत्र	१	,,
तस्वीर देवताओं की	१६		चँवर	१	,,
सीसा	१६		कटोरी	२	,,
सीसा बड़ा	४		सुवर्णशलाका	२	,,
घड़ी	१		सुवर्ण जिह्वा	२	,,
घुँघुरू			पञ्चपात्र	२	,,
सुवर्ण खण्ड	१०१		तष्टा	२	,,
वास्तु प्रतिमा	१	(सुवर्णकी)	अर्घा	२	,,
महाकाली प्रतिमा	१	,,	आचमनी	२	,,
महालक्ष्मी प्रतिमा	१	,,	सुवर्णशलाका	२	
महासरस्वती प्रतिमा	१	,,	सुवर्णजिह्वा	२	
योगिनी प्रतिमा	१	,,	अरणि-पूजन वस्त्र	१	
क्षेत्रपाल प्रतिमा	१	,,	पूर्णाहुति वस्त्र	२	
× प्रधान प्रतिमा	१	,,	जल-यात्रा के लिये वस्त्र और कलश—		
रुद्र प्रतिमा	१	,, } रुद्रयाग में			
पार्वती प्रतिमा	१	,, } रुद्रयाग में	मोती	९	
नन्दी प्रतिमा	१	,, } रुद्रयाग में			
विष्णु प्रतिमा	१	,, } विष्णु० में	दुपट्टा	९	
लक्ष्मी प्रतिमा	१	,, } विष्णु० में			
गरुड़ प्रतिमा	१	,, } विष्णु० में	कलश	९	

मण्डप बनाने का सामान—

बाँस	२०	(१० हाथ के)	वट की लकड़ी	२	(७ हाथ की)
बाँस या बल्ली	१२	(७ हाथ की)	वट की लकड़ी	१	(३॥ हाथ की)
बाँस या बल्ली	४	(९ हाथ की)	बाँस	१	(१६ हाथ का)

× जिस देवता के नाम से जो यज्ञ हो उसी देवता की प्रतिमा रखनी चाहिये। जैसे—शिव, विष्णु, गणपति, रामनाम, विश्वम्भर, ब्रह्मा (हंस अथवा चतुर्मुख) सूर्य, दुर्गा, लक्ष्मी शक्ति आदि नाम के यज्ञों में तत्तत् नाम की प्रतिमा रखनी चाहिये।

केले के स्तम्भ	३२	मूँज की रस्सी	
छप्पर		ईंटा पक्की	२०००
चटाई		ईंटा कच्ची	३००

हवनीय द्रव्य—

विष्णु याग	मन	महाविष्णु याग	मन	अतिविष्णु याग	मन
तिल	११	तिल	२२	तिल	४४
चावल	५	चावल	१०	चावल	२०
यव	३	यव	६	यव	१२
चीनी	२	चीनी	४	चीनी	६
घृत	२	घृत	४	घृत	८
पायस	१	पायस	२	पायस	४
कमल गट्टा	(२ सेर)	कमल गट्टा	(४ सेर)	कमल गट्टा	(८ सेर)
चन्दनका चूरा	(४ सेर)	चन्दन का चूरा	(८ सेर)	चन्दन का चूरा	(१६ सेर)
गुग्गुल	(२ सेर)	गुग्गुल	(३ सेर)	गुग्गुल	(४ सेर)
पञ्चमेवा	(५ सेर)	पञ्चमेवा	(८ सेर)	पञ्चमेवा	(१० सेर)
भोज पत्र	(आधा सेर)	भोज पत्र	(१ सेर)	भोज पत्र	(१॥ सेर)

लघुरुद्र याग	मन	महारुद्र याग	मन	अतिरुद्र याग	मन
तिल	११	तिल	२२	तिल	४४
चावल	५॥	चावल	११	चावल	२२
यव	३	यव	६	यव	१२
चीनी	२	चीनी	४	चीनी	८
घृत	२	घृत	४	घृत	८
पायस	१	पायस	२	पायस	४
कमल गट्टा	(२ सेर)	कमल गट्टा	(४ सेर)	कमल गट्टा	(८ सेर)
चन्दनका चूरा	(४ सेर)	चन्दनका चूरा	(८ सेर)	चन्दन का चूरा	(१६ सेर)

गुग्गुल	(२ सेर)	गुग्गुल	(४ सेर)	गुग्गुल	(८ सेर)
पंचमेवा	(५ सेर)	पंचमेवा	(१२ सेर)	पंचमेवा	(२० सेर)
भोज पत्र	(आधा सेर)	भोज पत्र	(१ सेर)	भोज पत्र	(२ सेर)

× हवनार्थ लकड़ी—५० मन ।

शय्या सामग्री—

पलङ्ग	१ (नेवार का बुना हुआ)	सोहाग पिटारी	
तकिया	२	चौकी	
तोसक	२	आसन-गलीचा	
चदरा	२	चँवर	१
चाँदनी	२	शीशा बड़ा	१
सुजनी	१	घड़ी	१
दरी	१	पानदान	१
रजाई	१	अतरदान	१
मसहरी	१	पीकदान	१
धोती	२	पञ्चपात्र	१
पीताम्बर	१	आचमनी	१
शिल्क	१	अर्घा	१
दुशाला	१	तष्टा	१
दुपट्टा	१	भोजन के समस्त वर्त्तन	
पहनने के वस्त्र (कोट, कमीज वगैरह)		चूल्हा	२
साफा (पगड़ी)	१	लालटेन	१
अँगोछा	१	पंखा	
छाता	१	अन्न (सब प्रकार के)	
जूता (स्वदेशी)	१	आभूषण	
खड़ाऊँ	१	पुस्तक (वेद, गीता, पुराण आदि)	

× "शमी–पलाश–न्यग्रोध–प्लक्ष–वैकङ्कतोद्भवाः ।
अश्वत्थोदुम्बरौ बिल्वश्चन्दनः सरलस्तथा ॥
शालश्च देवदारुश्च खदिरश्चेति याज्ञिकाः ॥" (ब्रह्मपुराण)

शरीर-शुद्ध्यर्थं सर्वप्रायश्चित्त गोदान—

गोदान	३६०, १८०, ९०, ४५, ३०,
पूर्वाङ्ग गोदान	२)
उत्तराङ्ग गोदान	२)
विष्णु श्राद्ध	४)
सभ्य पूजन	८)
अनुवादक	२)
निबन्ध पूजन (पुस्तक पूजन)	२)
विष्णु पूजन	२)
ब्रह्म-होतृ-वरण	४)

—०—

अङ्ग दक्षिणा

प्रधान दक्षिणा	प्रतिदिन
आचार्य दक्षिणा	,,
ब्रह्मा दक्षिणा	,,
द्वारपाल दक्षिणा	,,
अरणि-पूजन दक्षिणा	
तज्जन्य गोदान दक्षिणा	
पूर्णाहुति दक्षिणा	[यथाशक्ति]
भूयसी दक्षिणा	,,
गोनिष्क्रय द्रव्य दक्षिणा	,,
मण्डप निष्क्रय दक्षिणा	,,
भूमिनिष्क्रय दक्षिणा	,,

* इति *



* श्रीहरिः *

वेदाचार्य पं० श्रीवेणीराम शर्मा गौड़ की अन्य पुस्तकें—

(१)	पारस्करगृह्यसूत्र (विवृत्ति सहित)	१॥)
(२)	वेद-विज्ञान-मीमांसा (स्वतन्त्र ग्रन्थ)	॥)
(३)	विवाहपद्धति (हिन्दीभाषा सहित)	॥)
(४)	पिङ्गलछन्दसूत्र (प्रेमानुभूति हिन्दीटीका सहित)	॥=)
(५)	यज्ञ-मीमांसा (प्रथम-भाग)	॥=)
(६)	यज्ञ-मीमांसा (द्वितीय-भाग)	यन्त्रस्थ

—*—

महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरजी गौड़ के रचित ग्रन्थ—

(१) कात्यायनश्रौतसूत्र
(२) कात्यायनशुल्वसूत्र
(३) देवयाज्ञिकपद्धति
(४) श्राद्धसार
(५) स्मार्त्तप्रभु
(६) शिलान्यासपद्धति
(७) वास्तुशान्तिपद्धति
(८) विवाहपद्धति
(९) उपनयनपद्धति
(१०) कात्यायन-श्रौतसूत्र-भूमिका